विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक १२ दिसम्बर २००१ मूल्य रू. ५.००
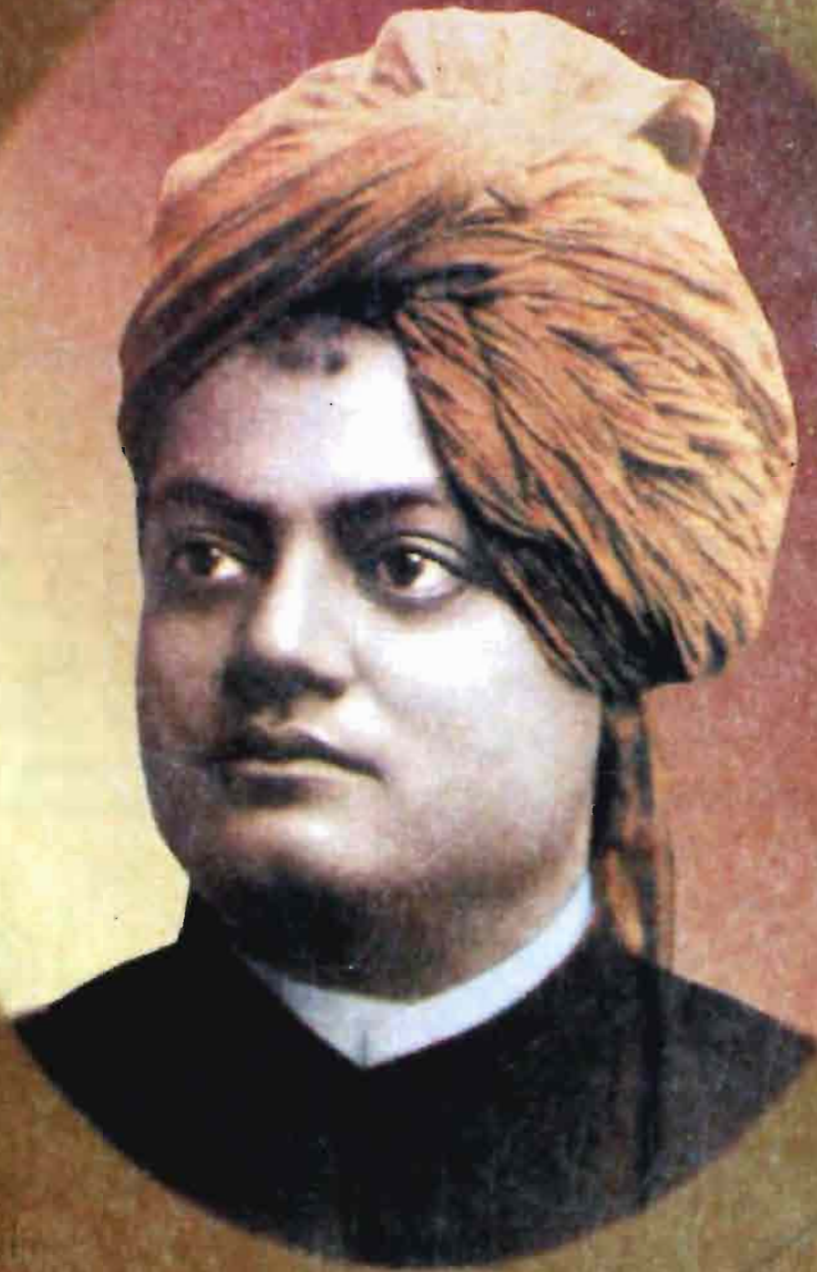
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
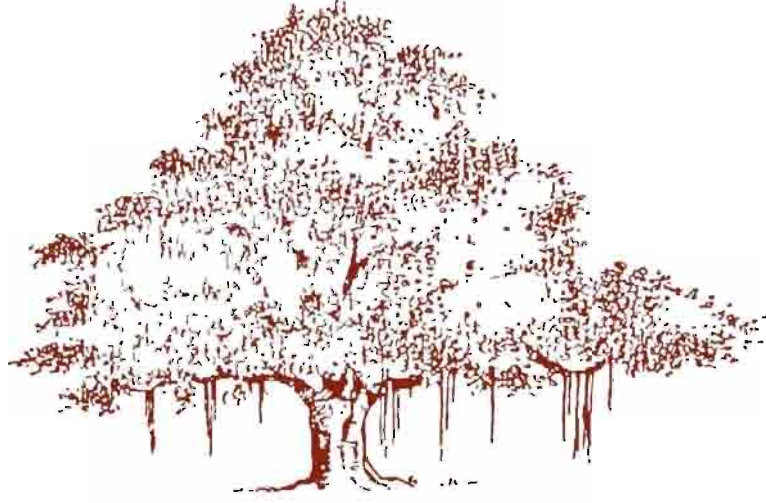
जैसे वृक्ष धरती से लवण और जल,
वातावरण से वायु, और सूर्य से ऊर्जा
ग्रहण करता हुआ अपने शरीर को स्वस्थ
रखता है, वैसे ही हे प्रभो! विश्व का
प्रत्येक प्राणी प्रकृति से आवश्यक तत्त्वों
का संचय करता हुआ अपने-आपको
स्वस्थ रखे!

- श्रुति -

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक १२

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. ७००/-

विदेशो मे — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष · २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं —

(१) धर्मार्थ औषधालय — नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय — (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं — (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च ।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ।।४८।।

अन्वयः – पार्थिव ! आज्ञा, कीर्तिः, ब्राह्मणानां पालनम्, दानम्, भोगः, मित्र-संरक्षणं च एते षड्गुणाः येषां न प्रवृत्ताः तेषाम् उपाश्रयेण कः अर्थः ?

भावार्थ – हे राजन्, जिन राजाओं में आदेश पालन कराने की क्षमता, यश-प्रतिष्ठा, ब्राह्मण आदि अकिचनो का पोषण, धन आदि का दान, ऐश्वर्य का भोग और मित्रों की रक्षा – ये छह गुण नहीं हैं, उनका आश्रय लेने से कोई लाभ नहीं।

यद्धात्रा निज-भालपट्ट-लिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृतिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ।।४९।।

अन्वयः – धात्रा निज-भालपट्ट-लिखितं स्तोकं महद् वा यत् धनम्, तत् मरुस्थले अपि नितरां प्राप्नोति, ततः अधिकं मेरौ न । तत् धीरः भव, वित्तवत्सु कृपणां वृतिं वृथा मा कृथाः । पश्य, घटः कूपे पयोनिधौ अपि तुल्यं जलं गृह्णाति ।

भावार्थ – जैसे घड़ा चाहे समुद्र से हो या कुएँ से, एक ही मात्रा में जल ग्रहण करता है; वैसे ही विधाता ने व्यक्ति के भाग्य में जितना धन लिखा है, उतना वह चाहे मरुस्थल में हो तो भी प्राप्त कर लेता है और यदि मेरु पर्वत पर चला जाय, तो भी उससे अधिक नहीं प्राप्त कर सकता। अतः धीर बनो और धनवानो के प्रति अपनी व्यर्थ की दीनवृत्ति का त्याग कर दो।

– भर्तृहरि

श्री सारदा-वन्दना

(स्वामी अभेदानन्द रचित स्तोत्र का भावानुवाद)

(भैरवी-कहरवा)

तुम ही प्रकृति परमा हो, तुम ही अभया वरदा हो,
जन के सन्ताप हरण को, देवी नररूप-धरा हो ।
सन्तुष्ट सभी को करती, शरणागत सेवक जितने,
मेरा प्रणाम जगदम्बे, स्वीकार करो चरणों में ।।

गुणहीन और अपराधी, हम हैं सन्तान तुम्हारे,
अति मोहग्रस्त आशा में, बैठे तव कृपा सहारे ।
भवसागर पार लगा दो, अपनी करुणा नौका में,
मेरा प्रणाम जगदम्बे, स्वीकार करो चरणों में ।।

तुम रामकृष्ण गतप्राणा माँ,
उनका ही नाम तुम्हें रुचता ।
उनके ही भावों में डूबी,
तुमको मैं नित्य नमन करता ।

है चरित तुम्हारा शुद्ध विमल,
आचार तुम्हारे अति पावन ।
जननी पवित्रता-स्वरूपिणी,
तुमको है बारम्बार नमन ।।

तुम ज्ञान-भक्ति देनेवाली,
तुम दयामयी जगदम्बा हो ।
तुम रामकृष्ण पूजित भी हो,
मेरा प्रणाम स्वीकार करो ।।

विनती करता सविनय तुमसे,
मुझ पर नित कृपादृष्टि रखना ।
निज स्नेहवारि से सिंचित कर,
मम दग्ध हृदय शीतल करना ।।

हे जगज्जननि सारदादेवि,
हे रामकृष्ण प्रभु जगद्गुरो,
शरणागत हूँ तुम दोनों का,
मम प्रणति नित्य स्वीकार करो ।।

– *विदेह*

विवेकानन्द-जीवनकथा (१)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(स्वामी प्रेमेशानन्द जी रामकृष्ण संघ के एक अत्यन्त सम्माननीय संन्यासी थे। उनके द्वारा रचित प्रस्तुत पुस्तिका अपने बँगला मूल रूप मे अब से लगभग ९० वर्ष पूर्व लिखी गयी थी और स्वामी विवेकानन्द जी के ही एक प्रमुख शिष्य स्वामी शुद्धानन्द जी ने इसका सम्पादन किया था। इसकी भूमिका मे वे लिखते है, ''इसके पाठ से थोड़े मे ही स्वामीजी के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओ की जानकारी हो जाएगी और पाठको के मन मे इस जीवन को और भी घनिष्ठ रूप से जानने का आग्रह उत्पन्न होगा। भाषा खूब सरल होने के कारण बालक-बालिकाएँ भी इसे पढ़कर आसानी से समझ सकेंगे।'' अगले कुछ अंको मे इसका धारावाहिक प्रकाशन करेंगे। – सं.)

बचपन

कलकत्ता के कायस्थ समाज में सिमला मुहल्ले का दत्त वंश सुपरिचित है। उसी वंश में राममोहन दत्त का जन्म हुआ था। वकालती का व्यवसाय अपना कर उन्होने विपुल धन-मान अर्जित करके अपने वंश का गौरव बढ़ाया था। उनके पुत्र दुर्गाचरण ने कम आयु मे ही कानून-विद्या मे दक्ष होकर पिता का व्यवसाय अपनाया, परन्तु उनकी रुचि व्यवसाय मे प्रगति करने की ओर बिल्कुल भी न थी; उनका तो अधिकांश समय सद्ग्रन्थों के पाठ तथा साधु-सन्तो के सान्निध्य मे बीतता था। आखिरकार पच्चीस वर्ष की आयु में उन्होने धन-मान, युवा पत्नी तथा शिशु पुत्र विश्वनाथ को त्यागकर संन्यास ले लिया।

माँ के स्नेहपूर्ण संरक्षण में लालित-पालित होकर विश्वनाथ ने यथोचित शिक्षा प्राप्त की और तदुपरान्त वे अपने पिता-पितामह के ही व्यवसाय में लग गये। उनके समान उदार हृदय के लोग बड़े दुर्लभ हैं। वे काफी धन कमाते थे, परन्तु कौड़ी मात्र भी संचय नही करते थे। उनका सब कुछ दीन-दुखियो एवं साधु-सज्जनो की सेवा तथा सगे-सम्बन्धियो के भरण-पोषण मे खर्च हो जाता था।

विश्वनाथ की पत्नी भुवनेश्वरी देवी एक आदर्श हिन्दू महिला थी। व्रत-उपवास आदि मे भी उनकी श्रद्धा थी। रामायण तथा महाभारत उन्हे कण्ठस्थ थे; वे एक बार भी जो कुछ सुन लेती, वह उन्हे कभी विस्मृत नही होता था। स्वामी विवेकानन्द की स्मरण-शक्ति पर विश्व विस्मित है, पर वे कहते थे कि उनकी माता की स्मरण-शक्ति उनसे भी तीक्ष्ण थी। भुवनेश्वरी देवी दूसरो के कष्ट देखकर करुणा से अभिभूत हो जाती थी। एक मुसलमान ने अपना रिहायसी मकान बन्धक रखकर विश्वनाथ से कुछ रुपये उधार लिये। उन रुपयो को चुका पाने मे असमर्थता के फलस्वरूप अपने मकान से ही हाथ धो बैठने की सम्भावना देखकर उस व्यक्ति ने सपरिवार आकर भुवनेश्वरी की शरण ली। भुवनेश्वरी देवी ने आनन्दपूर्वक अपना सारा दावा छोड़कर इकरारनामा उसे वापस कर दिया।

घर मे धन-मान का अभाव न था, तथापि सदा उत्सवमय हास्य-कोलाहल से परिपूर्ण घर मे भी एक पुत्र के अभाव मे भुवनेश्वरी देवी को सदा एक तरह की शून्यता का बोध होता था। पुत्र की प्राप्ति के लिए वे कितने ही प्रकार के व्रत-उपवास तथा पूजा-प्रार्थना किया करती थीं। अपनी इसी आकांक्षा को पूर्ण करने के निमित्त उन्होने वाराणसी में रहनेवाली अपनी एक सम्बन्धी महिला को पत्र लिखकर प्रतिदिन वीरेश्वर शिव को गंगाजल तथा बिल्वपत्र चढ़ाने का अनुरोध किया। आखिरकार उनकी व्याकुलता फलीभूत हुई। एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उन्होंने स्वप्न देखा कि महादेव स्वयं आकर उन्हें पुत्र-प्राप्ति का वर प्रदान कर रहे है।

१२ जनवरी, १८६३ ई., पौष संक्रान्ति के दिन, कृष्णा सप्तमी तिथि को स्वामी विवेकानन्द ने जन्म लिया। वीरेश्वर शिव के वरदान से इस पुत्र की प्राप्ति हुई थी, इस कारण माँ ने उसका नाम रखा – वीरेश्वर; नामकरण के समय उन्हें 'नरेन्द्रनाथ' का नाम मिला और बाल्यकाल मे वे दुलारपूर्वक 'बिले' नाम से भी पुकारे जाते थे।

थोड़ा चलने-फिरने की क्षमता आते ही नरेन्द्रनाथ इतने चंचल हो उठे थे कि उनकी देखभाल के लिए दो दाइयो की नियुक्ति करनी पड़ी। उनके दौड़-धूप और शोरगुल की कोई सीमा न थी। जब वे रोने लगते तो उन्हे शान्त करना प्राय: असम्भव था। दो बड़ी बहने उनके अत्याचार से परेशान हो जाती। उन्हे पकड़कर दण्डित करने की क्षमता भी उनमें न थी, क्योंकि पकड़ने का प्रयास करते ही वे दौड़कर नाली मे जाकर खड़े हो जाते और वही से तरह तरह से मुँह बनाकर उन लोगो के क्रोध को और भी भड़का डालते। माता तंग आकर कहती, ''हाय! महादेव की सेवा करने से आखिरकार यही फल मिला – उन्होंने अपना एक भूत ही भेज दिया!'' एक दिन किसी भी उपाय से उन्हे शान्त करने मे अक्षम होकर माँ उन्हें बलपूर्वक नल के नीचे खीच लायी और 'शिव शिव' कहते हुए उनके सिर पर पानी ढालने लगी। आश्चर्य की बात! बालक तुरन्त ही शान्त हो गया। तब से उनके चंचल हो उठने पर इसी उपाय से उन्हे शान्त किया जाता था।

बालक नरेन्द्रनाथ मुहल्ले की बालक-मण्डली के नेता हो उठे। मकान के दुमंजिले की सीढ़ी पर वे राजा होकर बैठते;

और साथियों में कोई मंत्री, तो कोई कोतवाल बनता। गवाही, जिरह, सजा आदि महत्वपूर्ण कार्यों के कोलाहल से भवन मुखरित हो जाता। खेलते समय उसी में तन्मय होकर मानो वे अपने तत्कालीन परिवेश के बारे में बिल्कुल ही भूल जाते। एक बार ऐसी ही अवस्था में सीढ़ी से गिरकर उनका सिर फट गया था, जिसके फलस्वरूप उनकी ललाट पर, दाहिनी आँख के ठीक ऊपर घाव का एक स्थायी चिह्न रह गया था।

छह वर्ष की आयु में वे पाठशाला में भर्ती हुए। अपने निम्न श्रेणी के सहपाठियों के मुख से अशोभनीय शब्द सुनकर उन्हें भी वह सब सीखते देख पिता ने उनका पाठशाला जाना बन्द करा दिया। घर में ही एक शिक्षक की नियुक्ति हो गयी। शिक्षक के पढ़ाते समय नरेन्द्रनाथ आँखें मूँदकर बैठे रहते थे और एक बार सुनकर ही उन्हें सारा पाठ कण्ठस्थ हो जाता। प्रारम्भ में शिक्षक महोदय इस बात को समझ नहीं सके और उन्होंने अपने छात्र को पढ़ाई से जी चुरानेवाला समझा। परन्तु उसे थोड़ा सुधारने का प्रयास करने पर उन्होंने देखा कि छात्र 'श्रुतिधर' है।

सात वर्ष के होने पर नरेन्द्रनाथ का विद्यासागर के मेट्रोपॉलिटन विद्यालय मे नाम लिखाया गया। शुरू में उन्हें अंग्रेजी से बड़ी अरुचि थी; उन्हें बहुत समझाया गया, पर वे कैसे भी उसे पढ़ने को राजी नहीं हुए। बाद में अपने अन्य सहपाठियों की देखादेखी उन्होंने भी अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया।

थोड़े ही दिनों के भीतर वे अपनी कक्षा के छात्रों के अगुआ हो गये। अत्यन्त चंचल होने के बावजूद वे कभी किसी को कष्ट नहीं देते थे, बल्कि मध्यस्थ बनकर वे अन्य लड़कों के आपसी झगड़े शान्त कर देते थे। विविध प्रकार से अपने मित्रों को आमोदित करना ही उनका स्वभाव था। बचपन से ही शारीरिक तथा मानसिक शक्ति में सबसे श्रेष्ठ होने के बावजूद, वे अपने सरल तथा मृदु व्यवहार से सबको मोहित कर लेते थे। किसी भी निमित्त यदि कोई उनसे एक बार भी मिलने का सुयोग पा लेता, तो जीवन भर वह उन्हें भुला नहीं पाता।

पढ़ाई-लिखाई में नरेन्द्रनाथ बेजोड़ थे। उनकी तीक्ष्ण स्मरण-शक्ति का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। उनके एक वृद्ध सम्बन्धी उनके घर में ही निवास करते थे। उन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था और प्रतिदिन रात के समय वे नरेन्द्रनाथ को 'अमरकोश' नामक संस्कृत शब्दकोश के श्लोक सिखाया करते थे। इस प्रकार उक्त ग्रन्थ का काफी अंश उन्हें याद हो गया था, फिर पाँच वर्ष की आयु में ही उन्होंने 'मुग्धबोध' व्याकरण के भी अनेक सूत्र कण्ठस्थ कर लिए थे। सात वर्ष की आयु में वे कृत्तिवासी रामायण के किसी भी अंश की आवृत्ति कर लेते थे। एक दिन वे कहीं रामायण का गायन सुनने गये थे। वहाँ गायक बीच का एक पद भूल गये थे। नरेन्द्रनाथ ने तुरन्त ही उसकी आवृत्ति करके सभा में उपस्थित सभी लोगों को विस्मित कर दिया था।

पठन-पाठन के समान ही शारीरिक शक्ति में भी कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। उनके मुहल्ले में एक कुस्ती का अखाड़ा था। वहाँ व्यायाम करने में भी वे अपने आयुवर्ग के बालकों के नेता हो गये थे। लाठी के खेलों में वे पारंगत थे। एक बार एक मेले में लाठी खेलने की प्रतियोगिता हो रही थी। नरेन्द्रनाथ ने भी उसमें भाग लिया। एक व्यक्ति ने आकर एक खिलाड़ी से लाठी माँगी और दल के सबसे बलवान बालक को आकर अपने साथ लाठी खेलने की चुनौती दी। उस समय उनकी आयु केवल दस वर्ष थी। अपनी पहनी हुई धोती को कमर में बाँध हाथ में लाठी लिए जब वे प्रतियोगिता में जा खड़े हुए, तो दर्शकगण उत्साहित तथा परिणाम जानने को उत्सुक हो उठे। नरेन्द्रनाथ अद्‌भुत कुशलता के साथ लाठी घुमाने लगे, मिट्टी का ढेला फेंका गया तो वह उनकी लाठी से टकराकर रुक गया, शरीर तक नहीं पहुँचा। इसके बाद दोनों के बीच दाँव-पेंच आरम्भ हुआ। नरेन्द्रनाथ ने अद्‌भुत कुशलता के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी की लाठी को तोड़कर उसके दो टुकड़े कर दिये। बचपन से ही उन्होंने अपने शरीर को इस प्रकार ठोक-पीटकर गढ़ लिया था; इसीलिए वे इतना अध्ययन, इतनी साधना-तपस्या और इतना धर्म-प्रचार का कार्य कर सके थे।

उनके घर के समीप ही एक चम्पा के फूलों का पेड़ था। नरेन्द्रनाथ बीच बीच में उस पेड़ पर चढ़कर चमगादड़ के समान लटक जाते थे। एक दिन अपने मित्रों के साथ वे उसी खेल में लगे हुए थे कि एक बूढ़े बाबा की दृष्टि उन पर जा पड़ी। उन्होंने अपनी वृद्ध-सुलभ अति-सावधानता के चलते सोचा कि कहीं गिरकर लड़कों के हाथ-पाँव न टूट जाएँ और वे नरेन्द्रनाथ को धमकाते हुए बोले, "इसी वृक्ष पर एक भयंकर ब्रह्मदैत्य निवास करता है; वह किसी दिन मौका देख तुम लोगों का गला मरोड़कर रख देगा।" नरेन्द्रनाथ ने चुपचाप सुन लिया और वृद्ध महाशय के पीठ फिराते ही पुन: और भी उत्साह के साथ वे पेड़ से झूलने लगे। संगी-साथियों द्वारा ब्रह्मदैत्य की याद दिलाने पर वे हँसते हुए बोले, "अरे बुद्धू! किसी के कुछ कहते ही क्या झट से विश्वास कर लेना चाहिए? यदि सचमुच ही इस पर ब्रह्मदैत्य रहता, तो उसने बहुत दिनों पहले ही हम लोगों की गर्दन मरोड़ दी होती।" बचपन से ही उनमें ऐसी विचार-शक्ति थी!

सात-आठ वर्ष की आयु में एक दिन वे अपने मित्रों के साथ कलकत्ते के दक्षिण में मटियाबुरुज में स्थित लखनऊ के भूतपूर्व नवाब वाजिदअली शाह का चिड़ियाघर देखने गये थे। लड़कों ने आपस में चन्दा करके एक छोटी-सी नाव किराये

पर ले ली। लौटते समय उनमें से एक बालक ने अस्वस्थ होकर नाव मे ही उल्टी कर दी। मुसलमान मल्लाह इस पर बहुत नाराज हुआ और उसने चाँदपाल घाट पर नाव लगाकर कहा, "नाव साफ कराये बिना किसी को नीचे नहीं उतरने दूँगा।" लड़को ने किसी और से नाव साफ करा लेने को कहा और उसके लिए पैसे देने को भी तैयार थे, परन्तु वह सहमत नही हुआ। बात बढ़ते बढ़ते हाथापाई की नौबत आ गई। घाट के सभी मल्लाह मिलकर लड़को को पीटने के लिए तैयार हो गये। लड़क इस पर किंकर्तव्यविमूढ़ थे। नरेन्द्रनाथ उनमे सबसे छोटे थे। मल्लाहों के साथ वाद-विवाद की गड़बड़ी के दौरान वे मौका देखकर नाव से नीचे उतर गये। बिल्कुल बच्चा सोचकर मल्लाहो ने उन्हें रोका नही। वे किनारे खड़े खड़े मामले को गम्भीर होते देखकर अपने साथियों की रक्षा का उपाय सोचने लगे। उसी समय उन्होंने देखा कि थोड़ी ही दूर के रास्ते से होकर दो अंग्रेज सैनिक मैदान की ओर हवाखोरी करने जा रहे थे। नरेन्द्रनाथ तेजी से उनके पास जा पहुँचे। नमस्ते करने के बाद उन्होंने उन दोनों का हाथ पकड़ लिया और अंग्रेजी भाषा से पूर्णत: अनजान होते हुए भी, टूटे-फूटे दो-चार अंग्रेजी शब्दों तथा इशारे से यथासम्भव घटना की सूचना देते हुए उन्हें घटनास्थल की ओर खीचने लगे। इस छोटे से प्यारे बालक की इस चेष्टा पर उन सैनिकों का हृदय मुग्ध हो गया। अविलम्ब नाव के पास पहुँचकर उन्होने सारी बात समझ ली और अपने हाथ का बेंत उठाकर मल्लाहो से बालको को छोड़ देने का आदेश दिया। पल्टन के गोरे सिपाहयों को देखकर सभी मल्लाह अपनी अपनी नाव की ओर खिसक गये और नरेन्द्रनाथ के साथियों को भी छुटकारा मिल गया। इस अल्प आयु में ही उनमें कैसा मित्र-प्रेम, तुरन्त-बुद्धि तथा अदम्य साहस था!

भूतपूर्व भारत-सम्राट् एडवर्ड सप्तम जब प्रिंस ऑफ वेल्स के रूप मे भारत-भ्रमण के लिए आए थे, तब नरेन्द्रनाथ की आयु दस या बारह वर्ष रही होगी। ब्रिटिश सरकार का 'सिरापिस' नाम का बड़ा जंगी जहाज भी उस समय कलकत्ता आया था। कलकत्ते के बहुत-से लोग अनुमति-पत्र लेकर उस जहाज को देखने गये। बालक नरेन्द्रनाथ भी अपने मित्रों के साथ उस जहाज को देखने को इच्छुक थे। अनुमति-पत्र पाने के लिए अर्जी लिखकर जब वे चौरंगी के दफ्तर में पहुँचे, तो उन्होने देखा कि द्वारपाल केवल गण्यमान्य लोगो को ही भीतर जाने दे रहा है। वे निकट ही खड़े होकर साहब से मिलने का उपाय सोचने लगे। अनुमति-पत्र लेकर लौटनेवालो की ओर ध्यान जाने पर उन्होने देखा कि सभी लोग उस दफ्तर की तीसरी मंजिल के एक बरामदे मे जा रहे हैं। नरेन्द्रनाथ समझ गये कि साहब वही पर अर्जियाँ लेकर अनुमति-पत्र जारी कर रहे हैं। वहाँ पहुँचने के अन्य किसी रास्ते की खोज में निगाह दौड़ाते हुए उन्होंने देखा कि उस बरामदे के पीछे के कमरे में नौकरों के आने-जाने के लिए मकान के एक किनारे लोहे की एक सँकरी सीढ़ी लगी हुई है। किसी के देख लेने पर अपमान होने की सम्भावना को जानकर भी वे साहसपूर्वक उसी सीढ़ी से तीसरी मंजिल तक पहुँच गये। साहब के कमरे के भीतर से बरामदे में प्रविष्ट होकर उन्होंने देखा कि प्रार्थीगण साहब के चारो ओर भीड़ करके खड़े हैं और साहब मेज पर सिर झुकाए लगातार अनुमति-पत्रों पर हस्ताक्षर किये जा रहे हैं। वे भी सबके पीछे जाकर खड़े हो गये, यथासमय अनुमति-पत्र पाने के बाद उन्होंने साहब को नमस्कार किया और बाकी लोगों के समान ही सामने की सीढ़ी से दफ्तर के बाहर निकल आये।

बचपन में उन्हें देवी-देवताओं की मूर्तियाँ लेकर खेलने में बड़ा आनन्द आता था। वे बाजार से राम-जानकी, शिव-पार्वती आदि की मूर्तियाँ खरीद लाते और मित्रों के साथ मिलकर उनकी पूजा करते। फिर कभी कभी खेल के रूप में ध्यान करने बैठकर वे बाह्य चेतना खो बैठते और काफी समय तक स्थिर बैठे रहते। एक दिन वे इसी प्रकार एक मित्र के साथ ध्यान का खेल खेलने बैठे थे। मित्र थोड़ी देर तो आँख मूँदकर बैठा रहा, फिर उसने ज्योही आँखें खोलीं, तो देखा कि कमरे में एक साँप घूम रहा है। वह जाकर घर के सभी लोगों को बुला लाया, परन्तु नरेन्द्रनाथ अपने आसन से हिले तक नहीं। सभी लोग किंकर्तव्यविमूढ़ थे; कहीं वह नरेन्द्रनाथ का डस न ले – इसी भय से किसी ने उसे भगाने का प्रयास भी नही किया। लोगो की आहट पाकर साँप स्वयं ही वहाँ से रफू-चक्कर हो गया। तब चीख-पुकार करके नरेन्द्रनाथ की चेतना लौटायी गयी। एक अन्य दिन, एक कमरे का द्वार भीतर से बन्द करके ध्यान करते हुए वे बाह्यसंज्ञा खो बैठे। परिवार के लोग उन्हें घर में कही भी न देख यह सोचकर आशंकित हो उठे कि कहीं वे रास्ता भूलकर गलत दिशा में तो नहीं निकल गये या किसी अन्य संकट में तो नहीं पड़ गये। बहुत ढूँढ़ने-तलाशने के बाद दरवाजा तोड़कर उन्ह बाहर निकाला गया।

नरेन्द्रनाथ बचपन से ही दूसरों के दु:ख देखकर द्रवित हो जाते थे। भिखारीगण उनसे जो भी माँगते, उसे दे डालने में वे कभी आगा-पीछा नही करते। एक दिन उनकी माता ने उन्हें दुमंजिले पर बन्द कर रखा था। उसी समय उन्होंने एक भिखारी को करुण स्वर में भिक्षा के लिए गुहार लगाते सुना। उन्होंने उसी कमरे में रखे सन्दूक से माँ के कुछ मूल्यवान वस्त्र निकाले और भिखारी के हाथ मे डाल दिये। घर के लोगो को बीच बीच मे भिखारियो को पैसे देकर घर के कीमती वस्त्र तथा बरतन आदि चीजे छुड़ा लानी पड़ती थी। ❖ (क्रमश:) ❖

शिक्षक के नाम पत्र

अब्राहम लिंकन

प्रिय अध्यापक महोदय,

मेरा पुत्र आपके पास शिक्षा ग्रहण कर रहा है। आपसे नम्र निवेदन है कि आप मेरे पुत्र को एक अच्छा चरित्रवान नागरिक बनाएँ। उसे यह भी समझाएँ कि सभी मनुष्य न्यायप्रिय और सभी मनुष्य सच्चे नहीं होते। आप उसे यह भी समझाएँ कि दुष्टों का प्रतिरोध करने के लिए बहादुर लोग भी होते हैं और यदि स्वार्थी राजनेता होते हैं, तो जनहित को समर्पित नेता भी अवश्य होते हैं। उसे यह बोध कराएँ कि यदि शत्रु होते हैं, तो मित्र भी होते हैं। मैं जानता हूँ कि यह कार्य समयसाध्य है, परन्तु यदि आप उसे समझा सकें, तो अवश्य समझाएँ कि कमाया हुआ एक रुपया पाये गये पाँच रुपयों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आप उसे खेल-भावना के साथ हारना सिखाएँ ... और विजयी होने का आनन्द लेना भी सिखाएँ। उसे ईर्ष्या से दूर ले जाएँ। यदि हो सके तो उसे मूक हास्य का रस भी सिखाएँ। उसमें यह समझ पैदा करें कि प्रताड़ित करनेवालों का मुकाबला करना सबसे आसान होता है। ... यदि हो सके तो उसे पुस्तकों का चमत्कार समझाएँ। ... आप उसे शान्तचित्त होकर आकाश में पक्षियों, धूप में मधुमक्खियों और हरे-भरे पर्वत पर रंग-विरंगे पुष्पों के शाश्वत रहस्य पर मनन करने की भी शिक्षा दें।

विद्यालय में उसे यह समझाएँ कि धोखा देने की तुलना में असफल होना कहीं अधिक सम्मान-जनक है। ... उसे अपने विचारों पर विश्वास करने की सीख दें, चाहे दूसरे लोग उसके विचारों को गलत ही क्यों न कहें। उसे सज्जनों के साथ विनम्र और उद्दण्ड लोगों के साथ कठोर व्यवहार करना सिखाएँ। मेरे पुत्र में ऐसी दृढ़ता विकसित करने का प्रयास करें कि वह उस समूह का अनुकरण न करे, जिसमें सब लोग हाँ-में-हाँ मिलाने की होड़ कर रहे हों। उसे सबकी बात सुनने की शिक्षा दें, परन्तु उसको यह भी सिखाएँ कि जो कुछ वह सुनता है, उसे सत्य की कसौटी पर कसकर देखे और जो कुछ अच्छा लगे, उसे ग्रहण करे।

यदि हो सके, तो उसे यह सिखाएँ कि दुःख के क्षणों में कैसे मुस्कुराया जाता है और उसे यह भी समझाएँ कि आँखों में (करुणा, प्रेम या संवेदना के) आँसू भरना लज्जा की बात नहीं। उसे ऐसे व्यक्तियों की उपेक्षा करना सिखाएँ, जिन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उसे अत्यधिक मधुर बोलनेवालों (परन्तु हृदय में कपट रखनेवालों) से सावधान रहना भी सिखाएँ। ... उसे यह शिक्षा दें कि अपना मस्तिष्क तो सबसे ऊँचे दाम देनेवाले के हवाले करे, लेकिन आत्मा और विश्वासों के दाम न लगने दे। उसे चीखने-चिल्लाने वाली उग्र भीड़ की ओर से कान बन्द रखना सिखाएँ ... और यदि वह अपने पक्ष को सही मानता है, तो उस पर दृढ़ रहकर संघर्ष करने की भी उसे शिक्षा दें।

उसके साथ सौम्य व्यवहार तो करें, पर आवश्यकतानुसार कठोरता भी बरतें, क्योंकि केवल अग्नि में डालकर ही उत्तम फौलाद का निर्माण होता है। उसमें (अच्छे कार्यों के लिए) अधीर होने का साहस भी और साहसी होने का धैर्य भी विकसित करें। उसे मानवजाति में परम विश्वास रखने की शिक्षा दें।

मैं आपसे बहुत अपेक्षा कर रहा हूँ। सोचिए कि मेरे बेटे के लिए आप क्या क्या कर सकते हैं।

एक अभिभावक

अब्राहम लिंकन

सुग्रीव-चरित (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'सुग्रीव-चरित' पर कुल ३ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके द्वितीय प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

सुग्रीव को निरन्तर अपनी असमर्थता का बोध बना हुआ है। उनके चरित्र मे यह सर्वत्र दिखाई देता है। प्रारम्भ यहीं से होता है। बालि जब मायावी से लड़ने चला, तो सुग्रीव भले ही उसके पीछे पीछे चले गये, पर बालि ने जब कहा कि तुम बाहर खड़े रहो, तो सुग्रीव बाहर ही रुक गये, गुफा के द्वार पर खड़े रहे। बालि का यही अभिमान है, सुग्रीव से कह दिया – तुम पन्द्रह दिन तक मेरी प्रतीक्षा करना। अगर पन्द्रह दिन में मैं न आऊँ तो समझ लेना कि मै हार गया और मारा गया –

परिखेसु मोहि एक पखवारा।
नहिं आवौं तब जानेसु मारा।। ४/६/७

इसका अभिप्राय क्या है? यह मायावी कौन है? मायावी, दुंदुभि, रावण आदि हमारे जीवन के विभिन्न दुर्गुणों के प्रतीक हैं। मायावी का परिचय देते हुये 'मानस' में कथित है – मय नाम के दैत्य के पुत्र का नाम है मायावी –

मय सुत मायावी तेहि नाउँ।
आवा सो प्रभु हमरें गाऊँ।। ४/६/२

यह मय कौन है? एक मय तो त्रेतायुग में और द्वापरयुग में था और हमारे आपके सबके पास विद्यमान है। गोस्वामीजी इसका परिचय देते हुए विनय-पत्रिका में कहते हैं –

रचित मन दनुज मय-रूपधारी। वि. प. ५८

व्यक्ति का जो मन है, वही मय दानव है और इसका पुत्र मायावी कौन है? यह जो हमारे आपके मन में संकल्प-विकल्प उठते रहते है, भाव उठते रहते हैं, यही मायावी है। और बालि? वह बड़ा अभिमानी है और अभिमानवश दावा करता है कि मै इतने दिनो मे मायावी को हरा दूँगा। क्या कोई व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि मन की सारी वृत्तियों पर इतने कम समय-सीमा मे विजय प्राप्त कर लेगा? यह तो सतत चलने वाली साधना है, प्रयत्न है। बालि का दावा उसके आत्म-विश्वास का सूचक है, परन्तु उसका यह आत्मविश्वास अभिमान मे परिणत होकर दुर्गुण बन जाता है। बालि का यह आत्म-विश्वास है कि मै मायावी को पन्द्रह दिन में हरा दूँगा, पर उसका यह कहना सही था क्या? आगे संकेत आता है कि उस गुफा के भीतर और भी न जाने कितने राक्षस बैठे हुए थे। यह हमारे आपके जीवन का सत्य है। मन की वृत्तियो के पीछे भागो, तो लगता है कि हम एक वृत्ति के पीछे भाग रहे है, पर अन्त:करण की गुफा में न जाने कितनी वृत्तियाँ छिपी हुई हैं और कोई भी दावे के साथ नहीं कह सकता कि उन्हें हराने में कितना समय लगेगा। परन्तु बालि अभिमान के कारण मायावी को अकेला मानने का भूल कर बैठता है और दावा करता है कि मैं उसे पन्द्रह दिन में जीत लूँगा। परिणाम क्या हुआ? वह भीतर गया, तो समय अधिक लग गया। जीता तो जरूर, पर उसे एक महीने का समय लग गया। बालि ने जब राक्षसों का वध किया, तो गुफा से रक्त की धारा बहने लगी। प्रभु ने सुग्रीव की ओर देखा – रक्त की धारा जब तुमने देखी, तो तुम्हारे मन में क्या प्रतिक्रिया हुई? सुग्रीव के मन में इसकी एक प्रतिक्रिया तो यह हो सकती थी कि चलूँ, अपने भाई की सहायता करूँ, भीतर जाकर राक्षसों से लडूँ। पर सुग्रीव के चरित्र की यही दुर्बलता है और दुर्बलता ही उसका सबसे बड़ा गुण भी है। सुग्रीव ने कहा – प्रभो, मैंने सोचा कि जिसने बालि को मार दिया, वह मुझे तो मार ही देगा, अत: यहाँ से भाग निकलना ही उचित होगा –

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई।
सिला देई तहँ चलेऊँ पराई।। ४/६/८

अपनी असमर्थता को समझना, 'मैं इतना समर्थ नहीं हूँ कि मन को और मन की वृत्तियों को जान सकूँ। गोस्वामीजी तो यही कहते हैं। वे कहते हैं – 'मैं सुग्रीव हूँ और मन के नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों को हराना चाहता हूँ, पर मेरी समस्या यही है – प्रभो, मैं अच्छी तरह से समझ गया हूँ कि ये संकल्प-विकल्प इतने प्रबल और अजेय हैं कि इनको हराने की क्षमता व्यक्ति में नहीं है –

हौं हार्यौ करि जतन बिबिध बिधि -
अतिसै प्रबल अजै। वि. प. ८९

व्यक्ति या तो यह दावा करे कि हम मन या उसकी वृत्तियों को जीत सकते है या हम अनुभव करें कि हम अपने बल या पुरुषार्थ से ही इसे जीतने में समर्थ नहीं है। यही अनुभव होता है गोस्वामीजी को कि वे असमर्थ हैं और इस असमर्थता की अनुभूति के बाद कभी कभी एक विकार आता है। कुछ लोग असमर्थता की अनुभूति के बाद निराश हो जाते हैं और अपने जीवन से इतने हतोत्साहित हो जाते है कि यह समझते हैं कि वे कुछ नही कर सकते। ऐसे लोग कभी कभी आत्महत्या भी

कर बैठते हैं। अब असामर्थ्य की अनुभूति से ऐसी वृत्ति का उदय हो जाय, तब तो वह बड़ा घातक है। पर यह असमर्थता की अनुभूति यदि समर्थ की खोज में लग जाय, असमर्थ को समर्थ से जोड़ने में लग जाय, तो वह असमर्थता भी सार्थक है। अपनी असमर्थता को जान लेने के बाद यदि हमें सर्वसमर्थ भगवान की याद आ जाय और अपनी असमर्थता को हम यदि भगवान से जोड़ दें, तब तो यह असमर्थता की अनुभूति का इतना बड़ा लाभ हुआ और मानो उससे जीवन की चरम सार्थकता की उपलब्धि हो गयी।

इसका अर्थ यह हुआ कि घड़ा यदि कुछ भरा हुआ हो, तो ठीक है, पर घड़ा खाली हो और उसको उल्टा करके रख दिया जाय, तो परिणाम क्या होगा? यदि आकाश से जल बरस रहा हो, तो भी उसमें एक बूँद भी जल नहीं आयेगा। उसके लिए तो यही आवश्यक है कि घड़े को सीधा करके दिखा दे कि घड़ा खाली है और जब खाली घड़ा सीधा कर दिया जायेगा, तो उसमें पानी भरेगा। इसी प्रकार यदि हमारे अन्त:करण का घड़ा सद्गुणों से भरा हुआ है, तो हम उसे भगवान के चरणों में अर्पित कर दें और यदि वह खाली है, तो कम-से-कम यह पता तो चले कि वह खाली है। यदि हम घड़े को उल्टा करके रख देगें, तो उसका खालीपन छिप जायेगा। इसका अर्थ है कि हम अपनी असमर्थता को, अपनी कमी को छिपाने की चेष्टा करते हैं और वह हमें प्रभु की कृपा से वंचित कर देती है। इसीलिए सुग्रीव अपनी असमर्थता को निष्कपट भाव से प्रभु के सामने रख देते हैं। सुग्रीव की आत्मकथा सुनकर प्रभु गद्गद हो जाते हैं। लक्ष्मणजी पूछते हैं – महाराज, नवधा भक्ति में कौन कौन-सी भक्ति आपको सुग्रीव में दिखायी दे रही है? प्रभु ने कहा – पहली भी दिखाई दे रही है और नौवी भी। – कैसे? बोले – पहली भक्ति है –

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। ३/३५/८

हनुमानजी के सन्तत्व में तो तुम्हें कोई सन्देह नहीं होगा। उनके जैसे सन्त इन्हें प्राप्त हैं और भक्ति की पराकाष्ठा क्या है? – जिसके अन्त:करण में सरलता और निश्छलता है, वह नवीं भक्ति तक पहुँच गया है –

नवम सरल सब सन छलहीना। ३/३६/५

भगवान ने कहा – देखो, अपनी आत्मकथा सुनाते समय, जिन घटनाओं में उसकी कमी दिखाई देती है, उन्हें यह चाहता तो छिपा लेता। न जाने कितने लोग ऐसा करते हैं। अपने विषय में बतलाते समय अपनी कमियों को बताने का साहस बिरले व्यक्तियों में ही होता है, पर सुग्रीव कितना सरल है कि आदि से अन्त तक अपने भागने को, अपनी पराजय को, अपनी दुर्बलता को कहीं भी उसने छिपाने की चेष्टा नहीं की। इससे बढ़कर उसकी सरलता और निश्छलता का प्रमाण और क्या हो सकता है? कुछ तो ऐसे लोग हैं, जो अपनी कमियों को समझते ही नहीं, पर इसने अपनी कमियों को मेरे सामने खोलकर रख देने में रंच मात्र संकोच नहीं किया। सुग्रीव के चरित्र में यह जो उसे अपनी असमर्थता का ज्ञान है और वह जो निरन्तर हनुमानजी से जुड़ा हुआ है, ये दोनों बातें उनके चरित्र का श्रेष्ठतम पक्ष है।

उसके चरित्र का एक अन्य श्रेष्ठ पक्ष है – ऋष्यमूक पर्वत पर निवास करना। ऐसी जगह चुन लेना जहाँ बालि न आ सके। यह ऋष्यमूक पर्वत क्या है? वस्तुत: जब आप सत्संग में जाते हैं, तब आप ऋष्यमूक पर्वत पर ही बैठे होते हैं। यह जो आप मूक बैठे हैं, यदि सब बोलने लगें, तब तो कथा ही बन्द हो जायेगी। यह जो आपका मूकत्व है, इसका अर्थ यह है कि उतनी देर के लिये आप अभिमान से मुक्त हैं। तभी तो आप चाहे जहाँ बैठकर सुन रहे हैं। परन्तु जब तक आप कथा एवं सत्संग के ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हैं, तब तक तो बालि वहाँ नहीं आ सकता, पर सुग्रीव जब उस पर्वत से नीचे उतर आता है, तो उसे डर बना रहता है कि कहीं बालि आकर मार न डाले। यह हमारे-आपके जीवन का भी सत्य है। जितनी देर तक हम कथा और सत्संग के ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हुये हैं, तब तक तो सब ठीक है, पर ज्यों ही नीचे उतरे, फिर वही बालि का भय, बालि का चक्कर ज्यों-का-त्यों बना रहेगा।

सुग्रीव ने अपनी सुरक्षा के लिये ऋष्यमूक पर्वत तथा हनुमानजी को चुना और फिर प्रभु को देखा। भगवान श्रीराम और लक्ष्मणजी को ऋष्यमूक पर्वत की ओर आते देख सुग्रीव भयभीत हो जाते हैं –

आगे चले बहुरि रघुराया।
रिष्यमूक पर्बत नियराया।।
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।
आवत देखि अतुल बल सींवा।।
अति सभीत ..... ।। ४/१/१-३

बस सुग्रीव का चरित्र यहीं से आरम्भ होता है। भगवान को देख वे डर गये। **अति सभीत** – पहले जो डर था, वह प्रभु को न पहचान कर था, पर जब भगवान को पहचान लें, तब डर उपयोगी है या नहीं? वैसे तो भयवृत्ति की निन्दा और अभय-वृत्ति की प्रशंसा की जाती है, लेकिन उसे उलटकर यों कहें कि जब तक हमारा भय संसार को लेकर है, तब तक वह दुखदाई है, पर जब वह भगवान से जुड़ जाता है, तब वह जीवन के लिये कल्याणकारी बन जाता है। 'विनय-पत्रिका' में तो गोस्वामीजी भगवान से यही माँगते हैं। वे कहते हैं – प्रभो, मुझे तीन वृत्तियाँ दीजिये। – कौन कौन-सी? बोले –

सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिए।

पुत्र को जैसे पिता का प्रेम होता है, वैसा प्रेम दीजिए। मित्र को जैसे मित्र का विश्वास प्राप्त होता है, वैसा विश्वास दीजिए। परन्तु इस प्रेम और विश्वास के साथ गोस्वामीजी ने

यह बात जोड़ दी कि राजा से प्रजा को जैसे डर लगता है, उसी तरह मुझे भी निरन्तर आपसे डर लगता रहे। यह बड़ा मनोवैज्ञानिक संकेत है। प्रेम और विश्वास महानतम वस्तुएँ हैं, पर इनके साथ एक समस्या जुड़ी है। भगवान हमें पुत्र मानकर प्रेम करे, मित्र मानकर मित्रता करे, पर भगवान का प्रेम तथा विश्वास पाकर हम इतना निश्चिन्त न हो जायँ कि चाहे जैसा आचरण करने लगे। भगवान का प्रेम और विश्वास यथेच्छाचार करने की स्वतंत्रता नही है। अनर्थकारी आचरण व कार्य हमारे जीवन को नष्ट कर देंगे और तब हम प्रभु के प्रेम व विश्वास को भी खो बैठेंगे। किसी सुन्दर वृक्ष की रक्षा के लिये जैसे काठ की बाड़ बनायी जाती है, वैसे ही प्रेम और विश्वास की सुरक्षा के लिये भय की बाड़ होना जरूरी है। भगवान के भय से मुक्त हो जाना, निश्चिन्त हो जाना उचित नही है।

रामायण में सबसे अधिक निर्भय यदि कोई है, तो वे हैं लक्ष्मणजी। पर भगवान से सर्वाधिक डरनेवाले भी वही हैं। वे निर्भय तो इतने है कि जिन परशुरामजी से सारे संसार के लोग काँपते हैं, उन परशुरामजी से लक्ष्मणजी कह देते हैं –

भृगुबर परसु देखावहु मोही।
बिप्र बिचारि बचउँ नृपद्रोही ।। १/२७६/६
इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं।
जे तरजनी देखि मरि जाहीं ।। १/२७३/३

जिन परशुरामजी से सभी डरते हैं, उनसे लक्ष्मणजी को कोई डर नही है, परन्तु वे ही लक्ष्मणजी भगवान राम से इतने डरते हैं कि गोस्वामीजी कहते हैं –

लखन हृदय लालसा बिसेखी।
जाइ जनकपुर आइअ देखी ।।
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। १/२१८/१-२

लक्ष्मणजी को जनकपुर देखने की इच्छा है, पर बोल नहीं पा रहे है। क्यो? प्रभु के सामने कैसे कहें कि मैं नगर देखना चाहता हूँ। इसी प्रकार रात्रि में प्रभु सोये हुए हैं। लक्ष्मणजी चरण दबा रहे हैं। वे चरण दबाते हुए किस स्थिति में है? –

चापत चरन लखनु उर लाएँ।
सभय सप्रेम ... ... ।। १/२२६/७

फिर वही भय। यहाँ एक सूक्ष्म बात है, जिसकी विस्तार से चर्चा करने का अवकाश अभी नही है, पर इसको सूत्र रूप मे यो कहे – एक तो अज्ञानजन्य भय होता है और दूसरा प्रेम-जन्य भय होता है। लक्ष्मणजी का भय प्रेमजन्य है। इसीलिए गोस्वामीजी ने **सभय सप्रेम** – दोनो शब्दों को जोड़ दिया है। लक्ष्मणजी चरण दबाते है तो डरते हैं, बोलते हैं तो डरते हैं और जनक की सभा मे जनक की बात सुनकर –

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
रदपट फरकत नयन रिसौंहें ।। १/२५२/८
कहि न सकत रघुबीर डर ... ... । १/२५२

बोलने में भगवान का डर बना हुआ है। भगवान ने लक्ष्मणजी से पूछ दिया – "लक्ष्मण, काल से तो सभी डरते हैं और तुम साक्षात् काल हो, अनन्त काल हो, तो तुम मुझसे क्यों डरते हो? तुम मुझसे बोलने में डरते हो, चरण दबाने में डरते हो।" तब लक्ष्मणजी ने कहा कि – "प्रभो, मैं संसार के लोगों को बताना चाहता हूँ कि मैं काल होकर भी जब ईश्वर से डरता हूँ, तो आप लोग भी डरते रहियेगा, क्योंकि आप लोग मुझसे डरते हैं और मैं इनसे डरता हूँ। अब ईश्वर से भय, उस भय की वृत्ति का कितना सुन्दर सदुपयोग है। सुग्रीव में भगवान को देखकर भय आ गया। उस समय यदि वे अकेले होते, तो उसका यही परिणाम होता कि वे ऋष्यमूक पर्वत से भाग खड़े होते। लेकिन हनुमानजी हैं न! अब **अति सभीत** का उपयोग क्या है? सुग्रीव को अपनी आँखों पर, अपने कानों पर, अपनी सामर्थ्य पर भरोसा नहीं है। यह असमर्थता का बोध है और अपनी असमर्थता को स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच नही है। सुग्रीव हनुमानजी से कहते हैं –

अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगल बल रूप निधाना ।।
धरि बटु रूप देखु तै जाई।
कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई ।।
पठए बालि होहिं मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह सैला ।। ४/१/३-५

इसका अभिप्राय यह है कि यदि अपनी आँख ठीक न हो और व्यक्ति अपनी आँखों को प्रामाणिक मानने की भूल करे, तो समस्या खड़ी हो जायेगी। ऐसे बहुत-से लोग होते हैं, जिनकी आँखें ठीक नहीं हैं, परन्तु प्रमाण मानेंगे तो अपनी ही आँखों को। रावण की सबसे बड़ी यही समस्या थी। अंगद ने रावण से कहा – "हनुमानजी ने मुझे एक सूचना दी थी, उस पर मुझे सन्देह हो रहा था कि ऐसा भला कैसे हो सकता है! परन्तु यहाँ आकर पता चला कि उनकी सूचना बिल्कुल ठीक थी। उन्होने कहा था कि लंका में एक बीस आँखोंवाला अन्धा और बीस कानोंवाला बहरा रहता है। मैं समझ नहीं पा रहा था कि ऐसा कैसे हो सकता है, बीस-की-बीस आँखें थोड़े ही फूट जायेंगी, एकाध तो ठीक होगी। फिर और भी आश्चर्यजनक बात यह है कि जो अन्धे होते हैं, उनके कान बहुत ही तेज होते हैं। अत: ठीक है रावण यदि अन्धा होगा तो कम-से-कम उसके कान तो तेज होगे। पर सचमुच बड़ी विचित्र बात है –

अंधउ बधिर न अस कहहिं
नयन कान तव बीस ।। ६/२१

अन्धा होना अर्थात् स्वयं न देख पाना। पर आपने देखा होगा कि जिनकी आँखो में देखने की शक्ति नहीं होती, उनके कान को भगवान बड़ा अच्छा बना देते हैं; ऐसे कई महानुभावों को मैंने देखा है, जिनके पास आँख नहीं है, परन्तु बस, एक

ही शब्द सुनकर वे बता देंगे कि कौन बोल रहे हैं। अब इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि आँख अर्थात् स्वयं अपनी बुद्धि से जानना और कान अर्थात् जिसे हम नहीं जान पाते, उसे विश्वासपूर्वक दूसरे से सुनना। देखना और सुनना ये जीवन की दो प्रक्रियाएँ हैं। एक में बुद्धि का उपयोग है और दूसरे में विश्वास का। रावण का दुर्भाग्य यह है कि न तो वह स्वयं ईश्वर को देख सकता है और न विश्वास कर सकता है – जो ईश्वर के बारे में बताना चाहते हैं उन पर विश्वास नहीं कर सकता। इसलिए अंगद की भाषा में रावण अन्धा और बहरा दोनो है। अब प्रश्न यह है कि सुग्रीव आँखवाले थे या नहीं? वैसे तो इसके पीछे और गम्भीर आध्यात्मिक भाव है, परन्तु मैं केवल संकेत-सूत्र दे दूँ। गोस्वामीजी एक अद्भुत बात कहते हैं – श्रीराम ज्ञान हैं और 'विनय-पत्रिका' में हम देखते हैं कि वे सुग्रीव की तुलना भी ज्ञान से करते हैं। लक्ष्मणजी को वे वैराग्य कहते हैं और हनुमानजी को भी वैराग्य बताते हैं। अब इसे आप मिलाकर देखें –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर।।२/३२१

ज्ञानरूप श्रीराम और वैराग्य रूप श्रीलक्ष्मण। और 'विनय-पत्रिका' में वे कहते हैं –

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल-ज्ञान-
सुग्रीव कृत जलधि सेतू ।। वि. प. ५८

जो समस्त भालु और बन्दर है, वे मोक्ष के विविध साधन ह और सुग्रीव ज्ञान हैं। उसी पद में आगे गोस्वामीजी कहते हैं – हनुमानजी प्रबल वैराग्य है –

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय । वि. प. ५८

अब इसका अर्थ क्या हुआ? ज्ञान और वैराग्य के एक रूप श्रीराम और श्री लक्ष्मण है और दूसरे रूप सुग्रीव और हनुमानजी हैं। पर इन दोनो में अन्तर है या नहीं? अन्तर है। इसलिए भगवान राम को जब ज्ञान कहा गया, तो उस ज्ञान शब्द के साथ एक शब्द और जोड़ दिया गया, जो सुग्रीव के साथ नही जोड़ा गया। वह शब्द क्या है? –

ग्यान अखंड एक सीताबर ।। ७/७८/४

भगवान राम अखण्ड ज्ञान है। इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान कभी किसी भी कारण से तिरोहित नहीं होता। निरन्तर एकरस रहनेवाला जो है, वह अखण्ड ज्ञान है। दूसरा ज्ञान जो सुग्रीव है, वह सूर्य का अंश है। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। भगवान राम किष्किन्धा-काण्ड में सुग्रीव की ओर संकेत करते हुए बताते हैं कि सूर्य के साथ एक समस्या है। – क्या? – सूर्य स्वयं तो प्रकाशमय है, पर कभी-कभी आकाश में जब बादल छा जाते हैं, तब उसका प्रकाश दिखायी नहीं देता। लक्ष्मण को उपदेश देते हुए भगवान कहते हैं –

कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।। ४/१५

जिनके जीवन में ज्ञान रहता है, उनमें भी कुसंग का बादल छा जाने पर ज्ञान ढ़ँक जाता है। यही समस्या सुग्रीव के जीवन में है। कभी उसके जीवन का आकाश स्वच्छ है, तो ज्ञान का प्रकाश है और कभी बादल छा गये तो अन्धकार, पर भगवान राम के जीवन में तो सदा एकरस अखण्ड ज्ञान का प्रकाश है, उस पर न तो कोई बादल छाता है और न कोई आवरण ही आता है। सुग्रीव के जीवन में कभी तो ज्ञान का प्रकाश है और कभी वह मेघ से ढँका हुआ अज्ञान का अन्धकार। इसलिये उन्हें पवनपुत्र के साथ जोड़ दिया गया। अभिप्राय है कि जब बादल सूर्य को ढँक ले, तब हवा ही उसे छिन्न-भिन्न कर सकती है। इसलिये यह ज्ञान-वैराग्य की जोड़ी है।

सुग्रीव का साधन-ज्ञान हैं और भगवान का सिद्ध-ज्ञान। इस सन्दर्भ में यहाँ पर एक बड़ी सूक्ष्म बात यह है कि जब श्री सीताजी का अपहरण हो गया, तब उसकी शान्ति के लिए साधन-ज्ञान की जरूरत है या सिद्ध-ज्ञान की? सिद्ध-ज्ञान की दृष्टि से तो सीताजी को भगवान श्रीराम से अलग किया नहीं जा सकता। परन्तु जब वे प्रभु से अलग प्रतीत हो रही हैं, जीवन से दूर प्रतीत हो रही हैं, तो उन्हें पाने के लिये साधन ज्ञान की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार वैराग्य के दो रूप हैं – प्रवृत्ति वैराग्य और निवृत्ति वैराग्य। प्रवृत्ति वैराग्य के स्वरूप हैं लक्ष्मणजी और निवृत्ति वैराग्य के स्वरूप हैं हनुमानजी। प्रवृत्ति वैराग्य के ऊपर प्रहार करने या उनकी रेखा को लांघने पर प्रत्यक्ष रूप से सीताजी का हरण हुआ, ऐसा प्रतीत हो रहा है। तब ऐसी परिस्थिति में श्री सीताजी को पुन: प्राप्त करने के लिए, पुन: लौटाने के लिए निवृत्ति वैराग्य की आवश्यकता है। यहाँ निवृत्ति वैराग्य के रूप में श्री हनुमानजी हैं।

इधर सुग्रीव के जीवन में जब बादल छा जाते हैं, जब वे अन्धकार तथा भय से आच्छन्न हो जाते हैं, तब उन्हें श्रीराम दिखाई नहीं देते। श्रीराम को पहचान न पाकर वे पवनपुत्र हनुमानजी की ओर देखते हुए कहते हैं कि आप पता लगाकर बताइए कि ये कौन हैं। इसका अर्थ यह है कि सुग्रीव को अपनी आँखों पर तो नहीं, परन्तु हनुमानजी की आँखों पर विश्वास है। यही बात विभीषणजी के सन्दर्भ में भी आती है। विभीषणजी के शरण में आने पर भी यही समस्या खड़ी हुई। सुग्रीव ने भगवान से कहा – महाराज, यह राक्षस है, रावण का भाई है, इसकी माया जानी नहीं जाती, मुझे तो लगता है कि इसे बाँधकर रख लिया जाय। भगवान ने मुस्कुराकर देखा। सुग्रीव ने कहा – "महाराज, क्षमा करें, आपमें तो सारे सद्गुण हैं, आप महान् हैं, परम उदार हैं, आप कभी किसी के दोष नहीं देखते, पर समस्या यह है कि आप अच्छे पारखी

नही है। आप व्यक्ति को पहचानने मे असमर्थ हैं। शायद इसी कारण आप विभीषण को पहचान नही पा रहे हैं। मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि विभीषण कैसे हैं।'' प्रभु ने मुस्कुराकर हनुमानजी की ओर देखा और खूब हँसे। हनुमानजी की ओर क्यो देखा? मानो सुग्रीव के प्रति प्रभु का संकेत यह था – "मित्र, हमारी-तुम्हारी दोनो की दशा एक-सी है। मुझे भी खरे-खोटे की पहचान नही है और तुम्हे भी। तुम मुझे देखकर नही परख पाये और मुझे बालि का भेदिया समझ लिया। इसका अर्थ है कि तुम्हारी भी आँखे बहुत बढ़िया नही हैं। तो एक काम करे! हनुमानजी से पूछ ले।'' प्रभु ने हनुमानजी से पूछा – हनुमान, तुम बताओ कि विभीषण कैसे हैं? प्रभु का तात्पर्य यह है – "हनुमान, तुम्हारी आँख पर सुग्रीव को विश्वास है और मुझे भी है। इसलिये तुम जो निर्णय दोगे, उसे हम प्रामाणिक मान लेगे।''

सुग्रीव हनुमानजी की आँखो पर भरोसा करते हैं। भगवान राम तथा लक्ष्मणजी को आते देखकर सुग्रीव तो नही पहचान सके, परन्तु वे हनुमानजी पर भरोसा करके उन्हें भेजते है कि आप जाकर देखिए और पहचान कर मुझे बताइए। हनुमानजी आते हैं। तब क्या हुआ? क्रम उलट गया! सुग्रीव जब स्वयं भगवान के पास नही पहुँच सके, तब हनुमानजी का आश्रय लिया और भगवान स्वयं सुग्रीव के पास आ गये। सुग्रीव ने भगवान को पा लिया। इसका अभिप्राय क्या हुआ? जो समर्थ है, वह स्वयं चलकर आयेगा और जो असमर्थ होगा, वहाँ भगवान स्वयं चलकर आयेगे।

रावण जब सीताजी का हरण करके ले जाने लगा, तो उनकी रक्षा करने जटायुजी आये। जटायुजी पक्षी हैं। इसका अभिप्राय क्या है? सीताजी का पक्ष लेना। सीताजी मूर्तिमती भक्ति है और गिद्धराज पक्षी हैं। मानो यह भक्ति का पक्ष लेना हुआ। इसे यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में देखें, तो संसार में सभी लोग पक्षी ही तो है। ऐसा कौन होगा, जिसमे कुछ-न-कुछ पक्षपात न हो? इस प्रकार सभी पक्षी तो है, लेकिन कोई चातक है, तो कोई कोकिल, कोई चकोर है, तो कोई कीर। यह रामायण की बड़ी मधुर भाषा है। भगवान राम जब पुष्प-वाटिका मे गये, तो पक्षियों ने उनका स्वागत किया –

चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नटत कल मोरा ।। १/२२७/६

जब मोर नाचने लगा, तो उसका पंख गिरा और लक्ष्मणजी ने उस पंख को उठाकर भगवान के सिर पर धारण करा दिया। पक्षियो ने प्रभु का स्वागत किया और प्रभु ने पक्षियों का पक्ष लेकर उसे अपने मस्तक पर धारण किया। यही भक्ति के स्वरूप की व्याख्या है।

अब सभी पक्षी अच्छे तो होते नहीं। एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि धनुष-यज्ञ में और पुष्प-वाटिका में क्या अन्तर है? मैंने कहा कि पुष्पवाटिका में तो चातक, कोकिल, कीर, चकोर और मोर – ये सब पक्षी हैं, पर धनुष-यज्ञ में इन सभी के साथ ही उल्लू भी विराजमान है। पुष्प-वाटिका और धनुष-यज्ञ में यही अन्तर है। लिखा हुआ है कि धनुष-यज्ञ में चातक, कोकिल, कीर, चकोर और मोर भी थे और कपटी राजाओं के साथ में उल्लू भी थे –

कपटी भूप उलूक लुकाने ।। १/२२५/२
सीय सुखहि बरनिय केहि भाँति।
जनु चातकी पाइ जलु स्वाति ।। १/२६३/६
कहहिं परसपर कोकिल बयनीं। १/३१०/७

ये पक्षियो के विविध रूप हैं; पर कपटी राजाओ रूपी ये उल्लू कौन है? जो प्रकाश के विरोधी है, ईश्वर के विरोधी पक्ष के हैं, उनका पक्ष दुर्भाग्यपूर्ण है। पक्ष की सार्थकता क्या है? मूल प्रश्न यह है कि हम पक्ष किसका ले रहे है। श्री राघवेन्द्र ने बड़ी कृपा की, उन्होने पुष्प-वाटिका मे चातक, कोकिल, कीर, चकोर, मोर को तो धन्य कर दिया, पर उन्हे लगा – "ठीक है, पर अन्य पक्षियो का भी तो सदुपयोग दिखाई देना चाहिए। गिद्धराज का सदुपयोग क्या है?'' रावण सीताजी का हरण करके ले जा रहा है। उनका पक्ष लेकर रावण को चुनौती देना, यह गिद्धराज के जीवन का सर्वोत्तम पक्ष है –

भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। ७/४६/८

जब रावण से गिद्धराज का युद्ध हुआ, तो रावण ने खड्ग से उसका पक्ष काट दिया। गिद्धराज गिरकर तड़पने लगे, पर जब प्रभु आकर उन्हें गोद मे उठा लेते हैं और कहते हैं – गिद्धराजजी! यह तो बड़ा अनर्थ हुआ, रावण ने आपका पक्ष काट दिया। गिद्धराज बोले – प्रभो, यह भी मेरा सौभाग्य है। – कैसे? बोले – जब तक मेरे पास पक्ष थे, तब तक मुझे ही आपके पास उड़कर आना पड़ता था, पर अब जब पक्ष कट गया, तो आप स्वयं मेरे पास आये है। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है? अपने पक्ष का परित्याग, अपनी असमर्थता का बोध हो, तो ईश्वर स्वयं ही गोद मे उठाने को आ जाते हैं। सुग्रीव के जीवन मे असमर्थता का बोध है और उस असमर्थता के बोध को जब वे हनुमानजी के सामने निवेदित करते है, तब हनुमानजी जैसे सन्त उस असमर्थता को ईश्वर के समक्ष ले जाकर उन्हे ईश्वर से मिला देते है। ❖ (क्रमशः) ❖

सच्ची भक्ति क्या है?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे है तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हम अपने पूजाघर में बैठकर भगवान् का भजन करते हैं, और सोचते हैं कि हम भक्त हैं। हम मन्दिर में बैठकर भजन-कीर्तन करते हैं और हमें लगता है कि हम भक्त हैं। लोगों के साथ मिलकर हम धार्मिक आयोजन करते हैं और हम समझते हैं कि हम भक्त हैं। ये सब धारणाएँ सही हैं, पर भक्ति की एक और भी अवस्था है, जिसे सही मायने में सच्ची भक्ति कहा जा सकता है। और वह है – ईश्वर को पूजाघर, मन्दिर और धार्मिक आयोजनों के बाहर भी देखना। यदि यह सही है कि यह जगत् ईश्वर से ही निकला है और उसी में स्थित है, तब इस संसार में ऐसा कुछ नहीं है, जो ईश्वर विरहित हो। संसार में सर्वत्र वही ईश्वर रमा है और उसकी भक्ति जैसे पूजाघर, मन्दिर और धार्मिक आयोजनों के माध्यम से की जा सकती है, वैसे ही अपने हर कर्म के माध्यम से भी। इस प्रकार सच्ची भक्ति की अवस्था वह है, जहाँ हमारा हर काम भगवान की पूजा बन जाता है।

गीता में अर्जुन को सारा उपदेश देने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण उपसंहार करते हुए कहते हैं -

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

- अर्थात् ''अपने अपने कर्म में लगे रह कर मनुष्य परम सिद्धि को पा लेता है। अपने कर्म में लगे रहकर वह किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है, वह उपाय तू मुझसे सुन। जिस सत्ता से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने कर्म द्वारा पूजा कर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।''

जब व्यक्ति का हर कर्म भगवान् की पूजा बन जाता है, तब उसके लिए मन्दिर और प्रयोगशाला में भेद नहीं रह जाता। भगिनी निवेदिता स्वामी विवेकानन्द के समग्र ग्रथ, जो हिन्दी में 'विवेकानन्द-साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुए है, की भूमिका में लिखती हैं – ''यदि एक और अनेक सचमुच एक ही सत्य की अभिव्यक्तियाँ हैं, तो केवल उपासना के ही विविध प्रकार नहीं वरन् सामान्य रूप से कर्म के भी सभी प्रकार, सघर्ष के भी सभी प्रकार, सर्जन के भी सभी प्रकार, सत्य-साक्षात्कार के मार्ग हैं। अतः लौकिक और धार्मिक में अब आगे कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग है। स्वयं जीवन हो धर्म है।''

वे आगे लिखती हैं – ''स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हें उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया, जो ज्ञान-भक्ति से अलग नहीं, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करने वाला है। उनके लिए कारखाना, अध्ययन-कक्ष, खेत और क्रीड़ाभूमि आदि भगवान् के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं, जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष तथा श्रद्धा, सच्चे नैतिक बल और आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं है। ... एक बार उन्होंने कहा था, ''कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति क त्रिविध माध्यम हैं'।'' अस्तु।

विदेशों की यात्रा से लौटने के बाद रामेश्वरम् के मन्दिर में भाषण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा था - ''वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी मनुष्य ने किसी एक निर्धन मनुष्य की सेवा-सुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच -नीच के भेदभाव के, यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा, जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।''

आगे उन्होंने कहा था – ''जो व्यक्ति अपने पिता की सेवा करना चाहता है, उसे अपने भाइयों की सेवा सबसे पहले करनी चाहिए। इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उसकी सन्तान की, विश्व के प्राणिमात्र की पहले सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में भी कहा गया है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है, वही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ दास है।''

यही सच्ची भक्ति का स्वरूप है।

माँ के सान्निध्य में (७६)

महेन्द्रनाथ गुप्त

१९१४ ई. के मार्च मे श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के दो-तीन दिन बाद श्रीमाँ के दर्शन की इच्छा से एक दिन शाम को बारीसाल के एक भक्त का परिचय-पत्र लेकर मैं 'उद्‌बोधन' कार्यालय जा पहुँचा। रासबिहारी महाराज (अरूपानन्द स्वामी) पत्र को पढ़ने के बाद माँ के पास गये और लौटकर मुझे माँ का आदेश सूचित किया, "सरल भाव से साधन-भजन करते हुए भगवत्प्राप्ति का प्रयास करना ही दीक्षा लेने का उद्देश्य है, न कि कुलगुरु की वृत्ति को नष्ट करना। मेरे उस लड़के को दीक्षा देने से वह जिस प्रकार मेरे प्रति भक्ति करेगा, उसी प्रकार यदि वह अपने कुलगुरु को श्रद्धा करे और उनकी वार्षिक वृत्ति यथाशक्ति बढ़ाने को राजी हो, तो हो सकता है।" मेरे इस पर सहमत होने पर महाराज मुझे माँ के पास ले गये। इसके दो दिन बाद मुझे माँ की कृपा प्राप्त हुई। दीक्षा के बाद एक सप्ताह मेरा मन एक अनिर्वचनीय भाव मे विभोर रहा।

दीक्षा के समय माँ ने पूछा था, "शाक्त हो या वैष्णव?" उत्तर पाने के बाद उन्होंने मुझे जो मंत्र दिया था, सात-आठ वर्ष बाद अपनी माँ से पूछने पर मुझे ज्ञात हुआ कि वही हमारे कुल का मंत्र है; माँ ने केवल उसमें बीज मात्र जोड़ दिया था।

इसके दो माह बाद मेरी पत्नी को भी दीक्षा लेने का आग्रह होने पर मैं उसे लेकर श्रीमाँ के पास गया। माँ ने उससे कहा, "तुम्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारी गोद में एक बच्चा है। उसे किसके पास रख आयी हो।" पत्नी बोली, "बच्चा कही इस स्थान को अपवित्र न कर दे, इसी भय से उसे नही लायी।" बच्चा केवल तीन महीने का है, यह जानने के बाद माँ ने मेरी पत्नी से कहा, "यह क्या जी, तुम्हे किसने बताया कि इतने छोटे बच्चे के मल-मूत्र से भी कमरा अपवित्र होता है? वे नारायण के समान होते हैं। उनकी इसी बोध के साथ देखभाल करना। तुम अभी घर जाओ। नहीं तो स्तन के अभाव मे बच्चे का गला सूखकर उसकी मृत्यु भी हो सकती है। चार दिन बाद आना। ठाकुर की इच्छा हुई तो तुम्हारी दीक्षा हो जायेगी, पर बच्चे को साथ लाना मत भूलना।"

मैं निचली मंजिल मे बैठा सोच रहा था – माँ यदि कुछ खाते हुए मुझे प्रसाद दे, तो समझूँगा कि वे मेरे प्रति खूब स्नेह रखती हैं। आधे घण्टे के बाद माँ को प्रणाम करने जाकर मैने देखा कि वे एक सन्देश (मिठाई) खा रही है। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "बेटा, इतना-सा खाकर तब प्रणाम करो।" मै अप्रत्याशित रूप से वह प्रसाद पाकर माँ को प्रणाम करना ही भूल गया। थोड़ी देर बाद उन्होने स्वयं ही मुझे स्मरण दिलाते हुए कहा, "अभी प्रणाम करके बहू को घर ले जाओ।"

माँ ने चार दिन बाद आकर मिलने को कहा था। इस बात को सुनकर मैं थोड़ा दुखी तथा चिन्तित हुआ था, परन्तु घर लौटकर पत्नी की हालत देखते ही समझ गया कि माँ ने क्यों प्रतीक्षा करने को कहा है।

बारीसाल लौटने के पूर्व माँ को प्रणाम करने गया। माँ ने कहा, "सावधानीपूर्वक जाना। मार्ग में संकट आदि से ठाकुर तुम्हारी रक्षा करेंगे।" मार्ग में भयानक आँधी-तूफान आ जाने से जीवन का ही संशय हो गया था। घर पहुँचकर हम सभी के मन मे ऐसी धारणा हुई कि माँ के आशीर्वाद से ही उस बार हमारी प्राणरक्षा हुई है।

इसके एक वर्ष बाद वैशाख के महीने में जयरामबाटी जाकर मैंने पुन: माँ का दर्शन किया। इसी बार मुझे उनके साथ खूब घनिष्ठतापूर्वक मिलने का अवसर मिला था। माँ सामने बैठकर बड़े स्नेहपूर्वक खिलातीं और मैं आनन्द से भावविभोर हो जाया करता।

यह सोचकर कि माँ के पास रहते हुए जप-ध्यान करने से अधिक फल होगा, एक दिन मैंने खूब जप-ध्यान किया। उस दिन प्रणाम करते समय माँ ने कहा, "माँ के पास आये हो, इस समय इतना जप-ध्यान करने की क्या आवश्यकता? मैं ही तो तुम लोगों के लिए सब कुछ कर रही हूँ। इस समय खाओ-पीओ और निश्चिन्त मन से आनन्द मनाओ।"

अगले दिन इच्छा हुई कि माँ के चरणों में फूल-चन्दन अर्पित करूँगा। परन्तु इस परदेश में यह सब कहाँ मिलने वाला था? मैं इसी प्रकार विचार कर रहा था कि तभी मामाओं की एक छोटी बालिका के हाथो माँ ने फूल-चन्दन भेजते हुए मुझे कहलवा भेजा, "बच्चा यदि अंजलि देना चाहता हो, तो इस समय आकर दे सकता है।"

तीसरे दिन माँ पाँवो की पीड़ा से कष्ट भोग रही थीं। उन्हें थोड़ी बुखार भी चढ़ी हुई थी। लगभग दस बजे इस बात से अनभिज्ञ एक अन्य भक्त के आकर प्रणाम करने पर माँ बोलीं, "मेरे पाँवो मे बड़ी पीड़ा हो रही है; पाँव छूकर प्रणाम न करो। ऐसे ही ठाकुर तुम्हारा कल्याण करेंगे।" बिलास महाराज वहीं उपस्थित थे। उन्होंने माँ से पूछा, "शास्त्र में शायद बीमारी की अवस्था मे अथवा लेटे रहने पर प्रणाम करने से मना किया गया है। ऐसा करने से क्या होता है?" माँ ने तत्काल कहा, "हाँ, बेटा, वैसा करने से व्याधि स्थित हो जाती है। किसी को भी बीमारी की हालत में प्रणाम करना उचित नही है।"

लगभग तीन वर्ष बाद बड़े दिन की छुट्टियों में माँ की जन्मतिथि के अवसर पर मैंने उनका अन्तिम बार दर्शन

किया। उत्सव के दिन सुबह माँ ने मुझे और कोयलपाड़ा मठ के एक साधु से कहा, "तुम लोग कामारपुकुर में शिबू (शिवराम दादा) के पास जाओ। वह तुम्हें एक घड़ा दूध खरीद देगा और थोड़े से फूलों की व्यवस्था कर देगा। तुम लोग यथाशीघ्र उसे लेकर लौट आना।" विलास महाराज ने कह दिया, "विलम्ब से खाने पर माँ को कष्ट होता है, अत: तुम लोगों को नौ बजे के पूर्व लौट आना होगा। नहीं तो तुम लोग माँ को पुष्पांजलि नहीं दे सकोगे।"

परन्तु हम लोगों को लौटते साढ़े ग्यारह बज गये। उस समय हम लोगों को यह सोचकर बड़ा दु:ख हो रहा था कि हम माँ को अंजलि नहीं दे सकेंगे। विलास महाराज ने देरी हो जाने के लिए हम लोगों को डाँटते हुए कहा, "माँ तुम लोगों के लिए प्रतीक्षा कर रही हैं।" ठीक उसी समय, न जाने कहाँ से आकर माँ ने मेरे सिर से फूलों की डलिया को उतार लिया और कहने लगीं, "फूल तो बड़े सुन्दर हैं! इनके द्वारा पहले ठाकुर की पूजा होनी चाहिए। तुम लोग जल्दी स्नान कर आओ।" स्नान करके आने के बाद हमने देखा कि हमारे अंजलि देने हेतु वे फूल सजे हुए हैं। माँ का यह अहेतुक स्नेह देखकर हम लोग मुग्ध रह गये।

ललितमोहन साहा

१९१५ ई. में एक दिन मैं 'उद्बोधन' में श्रीमाँ का दर्शन करने गया। प्रणाम करके खड़े होते ही माँ बोलीं, "ठाकुर की सत्य में कितनी निष्ठा थी! हम लोगों का वैसा कहाँ होता है! ठाकुर कहा करते थे, 'कलियुग में सत्य ही तपस्या है। सत्य को पकड़े रहने से भगवान को पाया जा सकता है'।"

अगले साल जयरामबाटी के संन्यासी-भक्त के निराशापूर्ण पत्र पर चर्चा के समय माँ सहसा ही गम्भीरतापूर्वक उद्दीप्त होकर कहने लगीं, "यह क्या बात जी! ठाकुर का नाम क्या साधारण चीज है, जो ऐसे ही चला जायेगा! वह नाम किसी भी हालत में व्यर्थ नहीं जायेगा। जो लोग ठाकुर को स्वीकार करके यहाँ आये हैं, उन्हें इष्ट-दर्शन अवश्य होगा। यदि अन्य समय न हो, तो मृत्यु के पूर्व क्षण में तो जरूर ही होगा।"

१९१८ ई. के एक रविवार के दिन मानसिक चंचलता के कारण ठाकुर तथा माँ के ऊपर बड़ा ही मान हुआ और मैंने निश्चय किया कि अब कभी माँ के पास नहीं जाऊँगा। परन्तु मित्रों के अनुरोध पर जाना पड़ा। वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि बहुत-से भक्त माँ को प्रणाम करने के लिए खड़े हैं। उन लोगों ने एक एक कर माँ को प्रणाम किया, परन्तु माँ ने किसी को भी मुख खोलकर कुछ कहा नहीं। सबके अन्त में मेरे प्रणाम करते ही माँ ने अति स्नेहपूर्वक कहा, "अच्छे तो हो न?" मैं अभिमानपूर्वक कह उठा, "हाँ माँ, खूब अच्छी तरह हूँ।" इस उत्तर को सुनकर माँ ने हँसते हुए मेरी ओर देखा और बोलीं, "यह क्या बेटा! मन का तो स्वभाव ही ऐसा है; उसके लिए क्या ऐसा सोचना चाहिए!"

कानून की पढ़ाई के दौरान एक अन्य दिन माँ को प्रणाम करने के बाद मैंने पूछा था, "माँ, एक तो मेरे मन की ऐसी अवस्था है और उस पर मैं वकालत करने चला हूँ। मेरा क्या होगा?" माँ मुझे आश्वस्त करते हुए बोलीं, "भय क्या है बेटा? यह एक व्यवसाय मात्र ही तो है!"

श्रीमती सरयूबाला सेन

एक दिन श्रीमाँ और गोलाप-माँ गंगास्नान को जा रही थीं। गोलाप-माँ बोलीं, "माँ, तेल लगा लो।" माँ ने कहा, "मैं तेल नहीं लगाऊँगी।" गोलाप-माँ के अनुरोध करने पर माँ ने कहा, "मेरे लगाने पर सभी लगायेंगे; तेल लगाकर गंगास्नान नहीं करना चाहिए।"

एक दिन एक महिला ने खेदपूर्वक माँ से पूछा, "माँ, हम लोगों के लिए भी क्या कोई उपाय होगा?" माँ ने थोड़ी नाराजगी प्रकट करते हुए कहा, "तुम लोगों के साल-दर-साल बच्चे होंगे; जरा भी संयम नहीं; फिर हम लोगों के पास आकर 'हमारे लिए उपाय क्या है' – कहने से क्या होगा?"

श्रीमाँ के रामेश्वर-धाम से लौट आने के बाद एक दिन मैंने उनसे पूछा था, "माँ, आप वहाँ क्या देख आयीं, बताइये।" माँ ने कहा, "बहुत से लोग मुझे देखने आये थे। वहाँ की महिलाएँ खूब लिखना-पढ़ना जानती हैं। मुझसे उन्होंने लेक्चर देने को कहा। मैं बोली, 'मैं तो लेक्चर देना नहीं जानती। यदि गौरदासी आती, तो देती'।"

एक दिन माँ ने कहा, "जो बड़ा होता है, वह एक ही होता है, उसके साथ दूसरों की तुलना नहीं हो सकती; जैसे गौरदासी।"

एक अन्य दिन माँ ने राधू की बीमारी के कारण उसे ताबीज पहनाया और देवता के निमित्त पैसे उठाकर रख रही थीं। हम लोगों ने पूछा, "माँ, आप ऐसा क्यों करती हैं? आपकी इच्छा से ही तो सब होता है।" माँ ने कहा, "बीमारी होने पर देवता की मन्नत करने से विपत्ति दूर हो जाती है; और जिसका जो प्राप्य है, उसे तो वह देना ही चाहिए।"

एक बार मानिकतला के एक भक्त के घर में गौरी-माँ भयंकर चेचक रोग से पीड़ित हुईं। उन भक्त की माता तथा अन्य सभी ने जी-जान से उनकी सेवा की थी। यह सुनकर श्रीमाँ ने कहा था, "आ... की माँ इसी जन्म में मुक्त हो जायेगी। गौरदासी की बीमारी के समय जिसने मात्र दीपक की बाती को ही उठा दिया है, वह भी मुक्त हो जायेगा।"

❖ (समाप्त) ❖

जीने की कला (४)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी है। उन्होने युवको के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। अनुवादक है श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

मन की शक्ति – एक महान् सम्पदा

हमारे शास्त्र सद्भाव विकसित करने के विविध उपाय बताते है, जो हमारे स्वास्थ्य के लिए किसी भी टॉनिक से अधिक उपकारी हैं। प्राचीन काल से ही हमारे देश के ऋषि-मुनियों ने काफी अध्ययन तथा अनुसन्धान के द्वारा सद्गुणों एवं सद्भावनाओ के विषय मे अनेक तथ्यो की खोज की है। यदि हम उन्हे अपने जीवन में नही अपनाते, तो शान्ति तथा आत्मविश्वास प्राप्त करने की हमारी आशा एक स्वप्न मात्र ही रह जायेगी। यह बात सर्वविदित है कि नशीले-पदार्थ या पेय मन मे केवल क्षणिक स्फूर्ति ही उत्पन्न करते हैं; परन्तु ये शरीर के साथ-ही-साथ मन को भी दुर्बल बनाकर, मनुष्य को नैतिक रूप से बरबाद कर देते हैं। शराब तथा मादक-पदार्थो के आदी लोग स्वयं को, अपने परिवार को तथा अपने आसपास के समाज को दूषित कर डालते हैं। विशेषज्ञ अपने प्रामाणिक आँकड़ो से यह बात सिद्ध करते हैं।

यह सही है कि योगासन, विपस्सना आदि स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोग-निवारण की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी हैं। परन्तु योगासन का अभ्यास करनेवाले बहुत-से लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ होगे कि योगशास्त्र ने मन की पवित्रता को काफी महत्त्व दिया है। गलत उपायों से धनवान बना व्यक्ति, मन्दिर मे भगवान को भेट चढ़ाकर आध्यात्मिक नही बन सकता। अपने अन्तर मे क्रोध, चिन्ता, भय, घृणा तथा ईर्ष्या के भावों को प्रश्रय देनेवाला व्यक्ति भले ही वैज्ञानिक बारीकियों के साथ शीर्षासन या सर्वांगासन जैसे आसनों का अभ्यास करे, परन्तु वह अच्छा स्वास्थ्य कायम रख पाने में समर्थ नहीं होगा। इनके फल स्थायी न होकर, केवल क्षणिक ही होंगे।

अमेरिका मे दीर्घकाल तक वेदान्त के प्रचारक रहे स्वामी सत्प्रकाशानन्द जी ने अपनी एक पुस्तक में अपने अनुभव का विवरण दिया है। धर्म तथा साधना पर उनके व्याख्यानो को सुननेवाली एक महिला ने एक दिन भाषण के उपरान्त उनसे कहा, "स्वामीजी, धर्म और साधना की अपेक्षा हमें मानसिक शान्ति तथा मनोबल को संरक्षित रखने का रहस्य जान लेना जरूरी है। यदि आप इसे प्राप्त करना सिखा दें, तो बड़ी कृपा होगी। हमे स्नायविक तनावो तथा क्षोभों के बन्धनों से खुद को मुक्त करने की परम आवश्यकता है।" अनेक लोग यह बात नही जानते कि मानसिक शान्ति और मनोबल को बचा रखने के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि अत्यन्त उपयोगी है।

अनेक प्रयोगों के द्वारा यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि तनाव तथा क्षोभों से राहत पाने के लिए विश्राम जरूरी है। शोध के इसी क्षेत्र में अग्रगण्य हैन्स सीली का कहना है कि सच्चे विश्राम की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य सभी तरह के तनावों से मुक्त हो जाता है, वैसे सम्मोहन के द्वारा भी कुछ हद तक यह अवस्था प्राप्त हो सकती है, परन्तु वह क्षणिक होती है। इस अवस्था को स्थायी तौर से प्राप्त करने के लिए अध्यात्म-पथ का अनुसरण करना होगा। जब तक जीवन तथा सुख-दुःख के उद्भव के प्रति हमारे दृष्टिकोण में बदलाव नहीं आता, तब तक सच्ची शान्ति तथा विश्राम नहीं मिल सकता। अन्य साधनो से प्राप्त होनेवाला विश्राम केवल सतही और अस्थायी होता है।

पाश्चात्य विद्वान सामाजिक अध:पतन के कारण बताते हुए कहते हैं – "भौतिकतावाद की धुन हिंसावृत्ति को बढ़ावा देती है। हमारा समाज, परिवार या अन्य किसी वस्तु पर नहीं, अपितु केवल सफलता पर ही आधारित है। सफलता के अभाव में लोग अवसाद-ग्रस्त हो जाते हैं। और अवसाद हिंसा तथा क्रूरता के पथ पर ले जाता है।"

सहयोग तथा मित्रता के स्थान पर समाज में प्रतियोगिता तथा ईर्ष्या को प्रोत्साहित करने में ही इसके सुख का मार्ग निहित है – अपने इस दृढ़ विश्वास का पुरस्कार ही हमें हिंसा की वृद्धि के रूप मे मिलता है। स्पर्धा की भावना से आक्रामकता और विद्वेष की भावना को बढ़ावा मिलता है। स्वस्थ प्रतियोगिता अच्छी हो सकती है। इससे उत्पादन तो बढ़ सकता है, परन्तु इस वृद्धि के लिए हमें कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है! इसकी कीमत है – सामान्य जनता पर अत्याचार। मुख्यतया भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा गलाकाट प्रतिस्पर्धा से परिचालित कोई भी व्यक्ति चिन्ताओं से मुक्त होकर मानसिक शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। यदि हम मानव के अस्थिर स्वभाव, इच्छाओं तथा कामनाओ की पूर्ति हेतु उसके संघर्ष तथा अनजाने ही उसके वासना-प्रवाह में बह जाने और उसकी असहाय अवस्था पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि केवल आर्थिक तथा तकनीकी प्रगति के द्वारा मनुष्य को बेहतर बनाने की आशा नही की जा सकती। जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर ने मनुष्यो की तुलना साही नामक जन्तुओं से की है। यदि अनेक साहियो को किसी संकीर्ण स्थान में ढकेल दिया जाय, तो वे एक-दूसरे के नुकीले काँटों से भिंदकर बरबाद हो जायेंगे।

इसी प्रकार मानव की अति-स्वार्थपरता मानव-जाति का विनाश कर सकती है। तो फिर मानव की स्वार्थपरता को कम करके उसे दूसरों को हानि पहुँचाने से रोकने का क्या उपाय है? इस विश्वबन्धुत्व के भाव का स्रोत क्या है? इसकी प्रेरक-शक्ति क्या है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका हमें समुचित उत्तर चाहिए। वही समाज श्रेष्ठ है, जिसके सभी सदस्य अपनी स्वार्थपरता पर अधिकाधिक अंकुश रखें। ऐसे समाज में ही एकता, शान्ति तथा सहयोग के भाव का विकास हो सकेगा। क्या आधुनिक समाज की भावना यही है? हम सर्वत्र ही अव्यवस्था, असहिष्णुता, घृणा और हिंसा का साम्राज्य देख रहे हैं। इसका क्या कारण है? इसका कारण है – अनियंत्रित स्वार्थपरता। धन-सम्पदा का संग्रह, शक्ति तथा पद-प्रतिष्ठा की प्राप्ति तथा सस्ती लोकप्रियता की चाह – ये सब ही हमारे जीवन के उद्देश्य बन गये हैं। स्वेच्छाचार में लिप्त होना एक घिनौना भौतिकवादी दृष्टिकोण है और इससे स्वार्थपरता में वृद्धि होती है। अँग्रेज दार्शनिक हॉब्स ने कहा था – "मनुष्य नैतिक आदर्शों के प्रति द्वेष रखनेवाला एक जन्मजात पशु है। शिक्षा तथा प्रशिक्षण देकर उसमें थोड़ा सुधार लाया जा सकता है।" यूनानी दार्शनिक प्लेटो कहते है, "मनुष्य जन्म से ही विद्रोही है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को इच्छानुसार अदृश्य होने की शक्ति मिल जाय, तो क्या कोई भी खजाना उससे सुरक्षित रह सकेगा? क्या उससे महिलाओं की लज्जा सुरक्षित रह सकेगी?" सामाजिक आक्रोश तथा बहिष्कार की आशंका और पुलिस के डण्डे के भय से ही बहुतेरे लोग भले तथा सज्जन बने रहते हैं। इन भयों के अभाव में मनुष्य अपने नैतिक मूल्यों को खो बैठेगा। दृढ़ इच्छाशक्ति तथा आत्मसंयम से सम्पन्न कुछ मुट्ठी भर लोग ही ऐसे मिलेंगे, जो किसी भी परिस्थिति में प्रलोभित नहीं होते। धर्म या आध्यात्मिक दृष्टिकोण अर्थात् ईश्वर तथा नैतिकता में विश्वास तथा सदाचार में पूर्ण निष्ठा की शक्ति ही मनुष्य को भ्रष्ट आचरण से दूर रखती है।

सच्चा धर्म और मन

सच्चा धर्म दो कार्य सम्पन्न करता है। एक तो, यह चंचल मन को प्रशिक्षित करके उसकी शक्तियों को एक उच्च आदर्श की ओर उन्मुख करता है। और दूसरा, यह मन को अन्य लोगों के साथ प्रेम व आदर के साथ सामंजस्यपूर्वक रहना सिखाता है। इस प्रबुद्ध स्वार्थ से किसी की क्षति या शोषण नहीं होता। धन और काम ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य जड़ पदार्थों का योग-मात्र नहीं है। वह आत्मा है, जो अपने शरीर, मन और इन्द्रियों का उपयोग करता है। वह आत्मा ही हम सबके भीतर का 'मैं' पन का भाव है। वह 'मैं' ही कर्त्ता और भोक्ता है। मनुष्य को विश्वास करना चाहिए कि वह आत्मा है और अन्य लोग भी वही आत्मा हैं। 'हम सब आत्मा हैं' – यह विश्वास हमें अपने शरीर और इन्द्रियों का दास बनाने के बजाय, उनका स्वामी बनाता है। इन्द्रिय-निग्रह से चित्तशुद्धि होती है और उससे मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के पथ पर आगे बढ़ता हैं। आत्मबोध या अपने सच्चे स्वरूप की अनुभूति से समस्त दुःखों का नाश हो जाता है और व्यक्ति शाश्वत आनन्द प्राप्त कर लेता है। शास्त्रों तथा ऋषियों की यही सीख है। धर्म की शिक्षाओं का पालन करने पर वह सभी बाधाओं से हमारी रक्षा करके हमें जीवन के सनातन लक्ष्य की ओर ले जाता है। अपने सम्मुख कोई आध्यात्मिक आदर्श रखकर, उसके रूपायन हेतु प्रयत्नशील रहने पर हमारे जीवन का कायाकल्प हो जाता है। इसमें समय और सतत प्रयास की भी आवश्यकता होती है। परन्तु इस आदर्श की ओर बढ़ते रहने पर हम निश्चय ही शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति करेंगे और अनन्तः शाश्वत शान्ति पा लेंगे। आध्यात्मिक आदर्श के बिना कोई भी भौतिक शान्ति तथा प्रसन्नता का अनुभव क्षणिक ही है और अन्ततः उससे केवल दुःख उत्पन्न होता है।

मनो-दैहिक गड़बड़ियाँ मन के विक्षोभ के फलस्वरूप होती हैं और वे शारीरिक स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती हैं। अतएव, मानसिक स्वास्थ्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

मन की व्याधियों को दूर करने के लिए दवाइयाँ कारगर नहीं हो सकतीं। शुद्ध विचार तथा भावनाएँ ही मन को ठीक हालत में रखती हैं। योग-दर्शन और अन्य धार्मिक परम्पराएँ सभी को दस नियमो के पालन का निर्देश देती हैं। ये हैं – अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, संग्रह न करना, पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर से प्रेम।

मन का टॉनिक

सभी धर्मों में सत्य, ईमानदारी, उदारता तथा संयम का उपदेश दिया गया है। व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याण का इच्छुक कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अन्धविश्वास-मात्र कहकर इन आदर्शों की अनदेखी नहीं कर सकता। यहाँ तक कि कोई संशयी-बुद्धिवादी या वैज्ञानिक-दृष्टिकोण-सम्पन्न व्यक्ति भी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। इन आदर्शों का लक्ष्य व्यक्तिगत के साथ-ही-साथ सामूहिक उत्थान भी है। ये आदर्श व्यक्ति को, न केवल सुखपूर्वक जीवन जीने, बल्कि अन्य लोगों को भी सुखी बनाने के लिए प्रेरित करते हैं।

दूसरों के कठोर वचनों और कृत्यों से आहत होने पर हमें कष्ट तथा पीड़ा का अनुभव होता है। वे ही वचन तथा कृत्य दूसरों को भी आहत करते हैं। अहिंसा मन का एक ऐसा सकारात्मक दृष्टिकोण है, जिसके द्वारा हम मन, वाणी तथा कर्म से सतत परहित में निरत रहते हैं। इसी तरह सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य एवं अलोभ जैसे अन्य सद्गुणों का अभ्यास व्यक्तिगत के साथ ही सामूहिक कल्याण का भी पोषक है।

हमारे धर्मग्रन्थो में सत्य तथा ईमानदारी की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। महाभारत के ऋषिगण सत्य की महानता का उद्घोष करते कभी नही थकते। उसमें धर्मव्याध नाम के एक महापुरुष कहते हैं कि अहिसा की जड़ें सत्य में स्थित होती हं। सत्य की नीव के बिना वास्तविक प्रगति सम्भव नहीं है। वैज्ञानिको ने सत्यो की खोज के लिए निरन्तर प्रयासो तथा उनकी गुत्थियाँ सुलझाने हेतु अपनी एकाग्र निष्ठा के द्वारा ही अद्भुत अविष्कार किये है। **सत्यमेव जयते नानृतम् –** "सत्य की ही विजय होती है, मिथ्या की कदापि नही" – इस महान् शिक्षा की सच्चाई सभी लोगों द्वारा समझी जा सकती है। गाँधीजी के लिए 'सत्य ही ईश्वर था।' श्रीरामकृष्ण देव ने कहा है, "सत्यनिष्ठ व्यक्ति मानो भगवान की गोद में बैठा है।"

बात को घुमाए-फिराएं बिना यथार्थ रूप से कह देना सत्य का एक रूप है। परन्तु इसके अपवाद भी हैं। कभी कभी हम दूसरो को आहत करने वाले किसी अप्रिय या कटु सत्य को स्पष्ट रूप से नही कह सकते। अपने दिये हुए वचनो को पूरा करना सत्य का दूसरा रूप है। कर्म के प्रति समर्पण इसका तीसरा रूप है। यद्यपि सत्यनिष्ठ लोग परहित में लगे रहकर अनेक कठिनाइयो का सामना करते हैं, परन्तु वे अपने पथ से विचलित नही होते। वे अपनी ईमानदारी और वादों को कभी भूलते नही। सत्याचरण द्वारा ही सत्यस्वरूप ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। अत: सत्य हमारे व्यक्तिगत व सामूहिक जीवनों तथा हमारे सामाजिक व्यवहार में ओतप्रोत होना चाहिए। स्कूलो तथा कॉलेजो मे अध्ययनरत हमारे छात्रों के हृदय में सत्य का संस्पर्श रहना चाहिए। सामाजिक कल्याण का यही एकमात्र उपाय है। इन उदात्त सिद्धान्तों पर दृढ़तापूर्वक आचरण करनेवाले किसी सत्यनिष्ठ और ईमानदार व्यक्ति को देखते ही लगता है कि वह चिन्ता, तनाव और क्रोध से मुक्त हो रहा है। एक ईमानदार व्यक्ति अपने वचनों तथा कर्मो में एकरूपता लाने का प्रयास करता है। उसका विवेक पारदर्शी तथा समझ सुस्पष्ट होती है। वह अपनी शक्तियों, दुर्बलताओं, प्रतिभाओं तथा सीमाओ के बारे मे उसे कोई भ्रम नही रह जाता। वह सजगतापूर्वक अपने विशेष गुणों को निखारने और अपनी दुर्बलताओ तथा कमियों को घटाने हेतु प्रयत्नशील रहता है।

वह अपने सभी सगे-सम्बन्धियो तथा अन्य लोगों के साथ ईमानदारी का बर्ताव करता है। वह अपनी आय-व्यय का उचित हिसाब रखता है। वह अपने समस्त वादों की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है और किसी अपरिहार्य कारणों से उसे पूरा कर पाने मे असमर्थ रहने पर वह क्षमा माँग लेता है। अनजाने में हुई अपनी गलतियो और कमियो के लिए वह बड़ो से क्षमा-याचना करता है और अत्यन्त सजग रहता है कि वैसा दुबारा कभी न हो। वह बिना पूछे दूसरो की, यहाँ तक कि अपने पारिवारिक सदस्यों की वस्तुओ को भी कभी स्पर्श नहीं करता। दूसरों से कुछ उधार लेने पर वह उसे यथासमय लौटा देता है। पूरे परिवार के लिए बनी किसी चीज को वह अकेले ही चोरी-छिपे कभी नहीं खाता। घर के भीतर और बाहर सर्वत्र ही, उसके व्यवहार में एकरूपता होती है। ऐसे आदर्श आचरण के फलस्वरूप मनुष्य को शान्ति मिलती है और वह मिथ्या भयों से मुक्त हो जाता है। इससे सन्तोष मिलता है, उत्तरदायित्व की भावना बढ़ती है और व्यक्ति का चरित्र सबल हो जाता है। वह दूसरों को प्रसन्न रखने का प्रयास नहीं करता, परन्तु उसका खरा चरित्र दूसरों को स्वयमेव प्रभावित करता है। अन्य लोग स्वेच्छया उसकी सहायता करने लगते हैं। लोग ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करके उसके सद्गुणों को अपनाने का प्रयास करते है। लोग न केवल उस पर विश्वास करते हैं, अपितु उसके अधिकाधिक संग की इच्छा भी करते हैं।

स्वच्छता, सन्तोष, साधना, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान – ये पाँच सद्गुण मनुष्य को पूर्णता के पथ पर ले जाते हैं। शारीरिक स्वच्छता और मानसिक शुचिता – व्यक्ति को दोनों पर ही ध्यान देना चाहिए। किसे ऐसे प्रसन्न व शान्त मन की चाह नहीं होती, जो चिन्ता, दु:ख, क्रोध, अहं तथा ईर्ष्या से मुक्त हो? क्या कोई ऐसा चंचल मन चाहता है, जो सभी काम लापरवाही से करता रहे? हम सभी को इन्द्रियों तथा मन की एकाग्रता की जरूरत है। मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होनेवाला अध्ययन ही हमारे लिए अत्यावश्यक है। मनुष्य को श्रद्धा तथा भक्ति के साथ परम शक्ति – परमेश्वर की शरण में जाना चाहिए।

इन आदर्शों को अपने जीवन में अपना कर हम समस्त चिन्ताओं, दु:खों तथा उनके फलस्वरूप होनेवाले मनो-दैहिक व्याधियों से मुक्त हो सकते हैं। उपरोक्त सभी सद्गुणों की प्राप्ति का एक सीधा मार्ग है। आध्यात्मिक रूप से अति उन्नत एक वरिष्ठ संन्यासी ने एक बार सलाह दी थी, "इस संसार में हर किसी को प्रसन्न रख पाने का मूर्खतापूर्ण प्रयत्न छोड़ दो।" 'भगवान सब कुछ देख रहे हैं' – यह दृढ़ विश्वास ही हमें सजग और सावधान बना देता है। 'ईश्वर हमारी मदद हेतु सदैव तत्पर है' – ऐसा दृढ़ विश्वास हमें अधिक उत्साहपूर्वक अपनी साधनाओं को जारी रखने की प्रेरणा देता है। 'ईश्वर सर्वशक्तिमान और परम दयालु हैं' – ऐसा प्रबल विश्वास हमारी समस्त असुरक्षा-भावना तथा भय को दूर करके हमें भगवान की शरण लेने में सहायता करता है। 'ईश्वर हमारी माँ तथा समस्त सुखों की एकमेव मूल हैं' – ऐसा जान लेने पर सांसारिक वस्तुओ का आकर्षण चला जायेगा। जब मन स्पष्ट रूप से समझ लेता है कि ईश्वर की कृपा से सब कुछ सम्भव है, तब हम अधिक उत्साहपूर्वक उनकी अनुभूति का प्रयास करने लगते हैं। इस प्रकार ईश्वरान्वेषी साधक में उक्त दसों सद्गुण प्रकट हो जाते हैं। कार्य करते समय हमारा मन

वर्तमान में ही केन्द्रित रहना चाहिए। मन में अतीत या भविष्य का चिन्तन नही होना चाहिए। मनुष्य को ईश्वर पर निर्भरशील होना चाहिए। वर्तमान की प्रतिकूलताओं से हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। सही समय आने पर भगवान की कृपा अवश्य होगी। हर व्यक्ति को अपना कार्य पूरी लगन से करना चाहिए और साथ-ही-साथ अपनी आध्यात्मिक साधना भी जारी रखनी चाहिए। कुछ लोग तेजी से आगे निकल सकते हैं और कुछ पीछे छूट सकते हैं। कुछ लोगों में विशेष गुण तथा शक्तियाँ हो सकती हैं और दूसरों में उनका अभाव हो सकता है। इन भेदों के बावजूद सभी लोग भगवान की ही सन्तान हैं। इन समस्त व्यक्तिगत भेदों को भुलाकर हमें सामूहिक रूप से और दक्षतापूर्वक अपना कार्य करना चाहिए।

इस सहज परामर्श में धर्म का सार निहित है। जब तक हम अपनी सारी समस्याओं का आध्यात्मिक समाधान नहीं पा लेते, तब तक मानसिक शान्ति की प्राप्ति असम्भव है।

विश्वास से सफलता

भले कर्मों से व्यक्ति को परम कल्याण तथा सफलता प्राप्त होती है – ऐसे दृढ़ विश्वास तथा आत्मविश्वास का मूल स्रोत ईश्वर पर विश्वास में निहित है। एक वैज्ञानिक और एक साधक – दोनों ही विश्वास की पूजा करते हैं। विश्वास ही जीवन है। विलियम जेम्स ने कहा है, "विश्वास उन शक्तियों में से एक है, जिनके सहारे मनुष्य जीवित रहता है और इसके पूर्ण अभाव का अर्थ है नाश।" विश्वास आध्यात्मिक जीवन की नींव है। यही ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने का साधन है। विश्वास से सब कुछ सम्भव है। क्या एक ही दिन में ऐसा अचल-अटल विश्वास प्राप्त कर पाना सम्भव है?

ईश्वर के प्रति ऐसा विश्वास अर्जित करने के लिए साधक को दिन-रात, सर्वदा ईश्वर-चिन्तन करते हुए, पथ की सफलता-विफलता को नजरन्दाज करते हुए, सभी सुख-सुविधाओं को त्यागकर, ज्ञान-विनय का आश्रय लिए प्रयत्नशील रहना होगा। जैसे तैराकी सीखने के लिए जल में कूदना ही पड़ता है, वैसे ही विश्वास की प्राप्ति के लिए साधक को साधना-सिन्धु में कूदना पड़ता है। तैरने का अभ्यास करनेवाला व्यक्ति प्रारम्भिक अवस्था में भयभीत और विफल हो सकता है, परन्तु प्रारम्भिक विफलताओं के बाद तैरना छोड़ देने से क्या कोई तैरना सीख सकेगा? इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में भी सच्चा व सतत प्रयत्न जरूरी है। असफलता मिले तो भी क्या? हमें आगे बढ़ते ही जाना चाहिए। मानसिक तनावों से छुटकारा पाने हेतु हम शान्ति की सभी उपलब्ध तकनीकों का प्रयोग कर सकते हैं, पर साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्थायी शान्ति केवल आध्यात्मिक साधना से ही सम्भव है।

❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी हेतु 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

ईसप की नीति-कथाएँ (२४)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते है कि वे पूर्व के किसी देश मे जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओ पर बौद्ध जातको तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यो का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

देहाती और शहरी चूहा

एक बार एक गाँव के चूहे और एक शहरी चूहे के बीच प्रगाढ़ मित्रता हो गयी। गाँव के चूहे ने शहरी चूहे को अपने गाँव आकर उसका आतिथ्य स्वीकार करने का निमंत्रण दिया। उसके राजी होने पर वह शहरी चूहे को खेत मे बने अपने बिल में ले आया। वहाँ वे कुछ दिन गेहूँ के दाने या मेड़ में होनेवाले कन्द-मूल खाते रहे। शहर के चूहे ने उसमें से कुछ खाया, कुछ बिखराया, परन्तु उसे कुछ भी पसन्द नही आया। एक दिन वह गाँव के चूहे से बोला, "भाई, यह सब खाकर तुम कैसे जीवित रहते हो? मेरे यहाँ शहर में तो तरह तरह की चीजे खाने को मिलती हैं। उन सब चीजों के स्वाद का तो कहना ही क्या! स्वयं देखे बिना तुम मेरी बात का विश्वास नही कर सकते। कल मेरे साथ नगर चलकर मेरा आतिथ्य ग्रहण करो और वहाँ के व्यंजनो को भी चखकर देखो।

गाँव का चूहा सहज ही राजी हो गया। अगले दिन दोनों नगर मे जा पहुँचे। शहरी चूहे के मकान के भण्डार में पहुँचकर सचमुच ही गाँव के चूहे की आँखें फटी-की-फटी रह गयी। वहाँ कितने ही तरह की चीजें करीने से सजाकर रखी हुई थी – रोटियाँ, सब्जियाँ, चने, मटर, सूखे मेवे, मधु, मक्खन आदि आदि। गाँव का चूहा इस आवभगत पर परम प्रसन्न हुआ और अपने भाग्य पर खेद व्यक्त करने लगा। वह शहरी चूहे से कहने लगा, "भाई, तुम सचमुच ही परम सौभाग्यवान हो। इतने प्रकार के खाद्य-पदार्थ खाने की तो बात ही क्या, मुझे जीवन मे देखने को भी नही मिले थे। मैंने स्वप्न मे भी नही सोचा था कि शहर में इतना सुख होगा।"

इस प्रकार बाते करते हुए दोनों मित्र भोजन करने बैठे। नरम तथा मधुर पावरोटी की सुगन्ध से आकृष्ट होकर गाँव के चूहे ने पहले उसी से श्रीगणेश किया। परन्तु उसे पहला कौर भी निगलने का समय नही मिला, क्योकि उसी समय दरवाजा खुलने की आवाज हुई और दोनो मित्रो ने सब कुछ यथावत् छोड़कर तेजी से दौड़ते हुए अपने सँकरे बिल मे शरण ली।

उस व्यक्ति के लौट जाने पर शहर के चूहे ने अपने देहाती मित्र से कहा, "भाई, डरने की कोई बात नही। ये लोग हमारा कुछ बिगाड़ेंगे नही। आओ, फिर से चलते है। तुम्हारे गाँव में कई दिनो से मेरा ठीक से भोजन ही नही हुआ।" दोनो मित्र बिल से बाहर आकर पुन: पेटपूजा की तैयारी करने लगे।

गाँव के चूहे ने इस बार रोटी को छोड़ एक बड़े अंजीर को दोनो हाथो से पकड़ा और उसे अपनी ओर खीचने लगा। परन्तु उस पर दाँत लगाने के पहले ही फिर आवाज हुई। दरवाजा खुला और उससे होकर धीरे धीरे एक बिल्ली अन्दर घुस आयी। दोनों चूहों को काटो तो खून ही नहीं। वे हड़बड़ाकर फिर अपने सँकरे बिल में जा घुसे।

इन दो भयंकर घटनाओं से गाँव के चूहे के तो हाथ-पाँव फूल गये। उसे तो अपनी जान पर ही खतरा मँडराता दिखाई देने लगा। वह अपने शहरी मित्र को सम्बोधित करके कहने लगा, "मित्र, बहुत हुआ, अब मुझे लौट जाने दो। यद्यपि तुमने मेरे लिए बड़े सुन्दर भोज का आयोजन किया है, परन्तु यह राजभोग तुम्हें ही मुबारक हो। इस भय और आतंक के बीच मेरा खाना नहीं हो सकेगा। मेरा भोजन बड़ा सादा और रूखा-सूखा तो है, परन्तु उसे खाते समय सर्वदा जान का भय नही बना रहता।"

भोगो के साथ प्राय: अशान्ति भी जुड़ी रहती है।

भेड़िया, लोमड़ी और बन्दर

एक भेड़िये ने एक लोमड़ी पर चोरी का आरोप लगाया, परन्तु लोमड़ी ने उसे पूरी तौर से नकार दिया। एक बन्दर ने दोनों के बीच फैसला करने का काम हाथ मे लिया। जब दोनों अपना अपना पक्ष पूरी तौर से प्रस्तुत कर चुके, तो बन्दर ने अपना फैसला सुनाते हुए कहा, "भेड़िये, तुम जिस चीज के खोने की शिकायत कर रहे हो, मुझे विश्वास नही होता कि वह चीज कभी खोयी है; और लोमड़ी, तुम इतनी दृढ़ता के साथ जिस चोरी को न करने का दावा कर रही हो, उस पर भी मुझे विश्वास नही है।"

बेइमान लोग ईमानदारी के कार्य करें, तो भी लोग विश्वास नहीं करते।

मक्खी और टट्टू

गाड़ी के धुरी-दण्ड पर बैठी हुई एक मक्खी ने उसमें जुते हुए टट्टू को सम्बोधित करते हुए कहा, "तुम कितने धीमे चलते हो! तुम तेज क्यो नही चलते? यदि तुम ऐसे ही चलते रहे तो मै तुम्हारी गरदन मे डंक मार दूँगी।" टट्टू ने उत्तर दिया, "मै तुम्हारी धमकियो की चिन्ता नही करता; मैं तो बस उसकी परवाह करता हूँ, जो तुम्हारे ऊपर बैठा है और अपने हाथ के कोड़े से मेरी गति मे तेजी ला देता है या फिर लगाम खीचकर मेरी गति को घटा देता है। अत: मक्खी, तू अपनी ढिठाई के साथ दूर हो जा, क्योकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि कब तेजी से चलना चाहिए और कब धीमी गति से।"

निराश मछुवारे

कुछ मछुवारे समुद्र में जाल फैलाकर मछलियाँ पकड़ रहे थे। खींचते समय अपने जाल को बड़ा भारी देखकर उन लोगों ने सोचा कि उसमें काफी अधिक मछलियाँ फँसी हैं और वे खुशी से नाचने लगे। परन्तु जालों को खींचकर तट तक ले आने के बाद उन लोगों ने देखा कि उनमें मछलियों की संख्या काफी कम है और उसका वजन पत्थरों के कारण बढ़ गया था। इस पर वे लोग अतीव निराश हुए, क्योंकि उन लोगों ने पहले से ही बहुत बड़ी आशाएँ कर रखी थीं। उनमें से एक वृद्ध मछुवारे ने कहा, "मित्रो, खेद करना बन्द करो, क्योंकि मुझे तो लगता है कि दु:ख भी सुख का ही जुड़वा भाई है; और चूँकि हम लोग अभी अभी बड़ी खुशी मना रहे थे, अत: अब दु:ख के ही आने की तो बारी थी।

बहेलिया और साँप

एक बहेलिया अपने पक्षी पकड़ने के यंत्र (कम्पा) को लिए पक्षियों को पकड़ने निकला। उसने एक सुन्दर पक्षी को वृक्ष पर बैठे देखा। उसे पकड़ने की इच्छा से बहेलिये ने उसके लिए उपयुक्त आकार का कम्पा तैयार किया और एकाग्रता के साथ उसी ओर देखता रहा। अपना सारा ध्यान केन्द्रित करके जब वह पक्षी की ओर अपना निशाना साध रहा था, तभी अनजाने में उसका पाँव निकट ही सो रहे एक साँप पर जा पड़ा। साँप ने पलटकर उसके पाँव में डँस लिया। वह व्यक्ति अचेत होते हुए बोल उठा, "हाय, हाय, कहाँ तो मैं दूसरे का शिकार कर रहा था और उसकी जगह मैं खुद ही मौत का शिकार बन रहा हूँ।"

लोमड़ी और मुखौटा

एक लोमड़ी एक अभिनेता के घर में घुसी। वहाँ की सारी चीजों की छानबीन करते हुए उसे एक मुखौटा हाथ लगा, जो मनुष्य के सिर का बिल्कुल जीवन्त मुद्रण किया गया था। उसने मुखौटे के ऊपर अपना पंजा रखते हुए कहा, "यह कितना अद्भुत सिर है! तो भी इसका कोई मूल्य नहीं, क्योंकि इसमें दिमाग नहीं है।"

हंस और बगुले

हंस और बगुले एक ही मैदान में चर रहे थे। तभी एक बहेलिए ने आकर उन्हें पकड़ने के लिए अपना जाल फैला दिया। बगुले हल्के होने के कारण उसके आते ही भाग गये, जबकि हंस भारी होने के कारण उतनी तेजी से भाग नहीं सके और बहेलिए द्वारा पकड़ लिए गये।

कभी कभी हल्कापन भी प्राणरक्षा का कारण बन जाता है।

अन्धा व्यक्ति और भेड़िये का बच्चा

एक अन्धा व्यक्ति हाथों से स्पर्श करके ही विभिन्न पशुओं को पहचाना करता था। एक बार उसके पास भेड़िये का एक बच्चा लाया गया और उससे अनुरोध किया गया कि वह इसे छूकर पहचाने। उसने जानवर का स्पर्श किया, परन्तु पूरी तौर से निर्धारित न करने के कारण बोला, "मुझे ठीक ठीक पता नहीं है कि यह किसी लोमड़ी का बच्चा है या भेड़िये का, परन्तु यह बात मैं भलीभाँति जानता हूँ कि इसे भेड़ों के बीच रखना सुरक्षित नहीं होगा।

पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं।

कुत्ते और लोमड़ी

कुछ कुत्तों को कहीं से एक सिंह का चमड़ा मिल गया। वे लोग उसे अपने पैने दाँतों से चीरने-फाड़ने लगे। एक लोमड़ी ने उन्हें ऐसा करते देख कर कहा, "मरे हुए सिंह की खाल को लेकर तुम लोग बड़ी बहादुरी दिखा रहे हो। यदि सिंह जीवित होता, तो तुम्हें तत्काल पता चल जाता कि उसके पंजे तुम्हारे दाँतों की अपेक्षा कितने अधिक मजबूत हैं।

गिरे हुए व्यक्ति पर आघात करना बहुत ही आसान है।

डॉक्टर बना मोची

एक मोची अपने धन्धे से अपना पेट पालने में अक्षम होकर एक ऐसे नगर में पहुँचा, जहाँ वह अपरिचित था और वहाँ चिकित्सक का व्यवसाय करने लगा। वह सभी तरह के विषों के प्रतिकार के रूप में एक दवा बेचा करता और आत्म-प्रशंसा तथा विज्ञापन आदि के द्वारा अच्छा नाम कमा रहा था।

एक बार जब मोची स्वयं ही किसी गम्भीर बीमारी से आक्रान्त हुआ, तो उस नगर के अध्यक्ष ने उसके गुणों की परीक्षा करने का विचार किया। इसके लिए उसने एक प्याला मँगवाया और उसमें जल ढालते हुए ऐसा दिखावा करने लगा मानो वह उसमें जहर और उसके साथ मोची की विषहर औषधि भी ढाल रहा है। इसके बाद उसने मोची को पुरस्कार देने का वादा करते हुए उसे पीने का आदेश दिया। मोची ने मृत्यु के भय से स्वीकार किया कि उसे चिकित्सा विज्ञान का जरा भी ज्ञान नहीं है और वह लोगों की मूर्खतापूर्ण भीड़भाड़ के कारण ही इतना प्रसिद्ध हो गया था। तब नगर-अध्यक्ष ने एक आम सभा बुलवाई और नागरिकों को सम्बोधित करते हुए वह बोला, "आप लोग कितनी बड़ी मूर्खता के शिकार हुए हैं? जिस व्यक्ति को जूते बनाने के लिए कोई अपने पाँव देने को तैयार नहीं हुआ, उसके हाथों में अपना सिर दे देने में भी आप लोगों को बिल्कुल भी हिचकिचाहट नहीं हुई।"

अज्ञान में ही निश्चिन्तता है। ❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (१२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(पिछले अंक में हमने स्वामीजी के बेलगाँव-प्रवास की झलकियाँ देखी और उनके ज्ञानगर्भित वार्तालाप का आस्वादन किया। २७ अक्टूबर १८९२ ई. को वे गोवा के लिए रवाना हुए और अब हम देखेंगे कि वहाँ पहुँचकर उनका समय कैसे बीता। – सं.)

गोवा-परिदर्शन

वर्तमान महाराष्ट्र तथा कर्नाटक राज्यों के बीच पश्चिमी घाट पर स्थित गोवा प्रान्त का अपना अलग ही वैशिष्ट्य है। वहाँ के सागर तट तथा भूभाग को सजाने-सँवारने में निसर्ग ने बड़ी उदारता का परिचय दिया है। महाभारत तथा पुराणो मे भी गोमंतक प्रदेश का उल्लेख मिलता है। १५१० ई. में पुर्तगाल-वासियों ने वहाँ अपना आधिपत्य जमाकर शासन शुरू किया और १५४२ ई. से सेंट फ्रांसिस जेवियर वहाँ ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे। तब से हिन्दुओं का धर्मान्तरण करने हेतु उन पर बड़े अत्याचार हुए तथा उनके असंख्य मन्दिरो का विध्वंस कर दिया गया। इस दृष्टि से, स्वामीजी जब गोवा गये तो भी अवस्था में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

स्वामीजी गोवा में जाकर कितने दिन रहे और वहाँ पर उन्होंने क्या किया? काफी काल तक इस बारे में कोई विवरण उपलब्ध नहीं था। स्वामीजी की सारी जीवनियाँ इस प्रसंग में प्राय: मौन थी। गोवा से लिखा हुआ केवल एक छोटा-सा पत्र ही स्वामीजी के साहित्य मे प्राप्त है। परन्तु क्रमश: उनके गोवा-प्रवास के विषय में किंचित् विवरण प्रकाश में आया है। श्री दत्ता नायक दलाल ने १९५८ ई. में प्रकाशित अपनी 'यती सुब्रह्मण्यानन्द' नामक मराठी पुस्तिका के 'दिगन्तकीर्ति योगिराज' शीर्षक अध्याय मे इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी है। वे बताते हैं कि बेलगाँव में रहते समय स्वामीजी का वहाँ के प्रसिद्ध डॉक्टर विष्णुपन्त शिरगाँवकर के साथ परिचय हुआ। डॉक्टर को जब ज्ञात हुआ कि स्वामीजी किसी विशेष उद्देश्य से गोवा जाने के इच्छुक हैं, तो इसकी व्यवस्था करने का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने मड़गाँव के अपने विद्वान् मित्र श्री सुब्राय लक्ष्मण नायक के नाम एक पत्र लिखकर अनुरोध किया कि वे स्वामीजी के गोवा-निवास तथा परिदर्शन की व्यवस्था कर दें। फिर जब तार द्वारा उन्हे स्वामीजी के गोवा पहुँचने की तिथि की सूचना दी गई, तो उनका उत्तर आया कि स्वामीजी का स्वागत करने को वे स्वयं ही रेलवे स्टेशन पर उपस्थित रहेगे। २७ अक्तूबर को स्वामीजी बेलगाँव से मेल मे मड़गाँव के लिए रवाना हुए थे। स्वामीजी के वहाँ पहुँचने पर सैकड़ो लोगो के साथ श्री सुब्राय नायक ने उनकी आगवानी की और अपनी बग्घी में बिठाकर उन्हे अपने आवास पर ले गये। वहाँ अपने कुलदेवता श्री दामोदर के मन्दिर से संलग्न एक कमरे मे उन्होने स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध किया और स्वयं ही उनकी सुख-सुविधा की व्यवस्था मे लग गये।

श्री सुब्राय नायक का चरित्र भी बड़ा अदभुत है। उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है – अब से चार सौ वर्षो से भी अधिक काल पूर्व पुर्तगाल से गोवा आये ईसाई धर्मान्धों ने मड़गाँव के ग्रामदेवता श्री दामोदर के मन्दिर का विध्वंस कर हिन्दुओ के पूजा-पर्व आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उन दिनों सरकारी अत्याचार का भय व्याप्त होने के बावजूद वहाँ के सुप्रतिष्ठित नायक परिवार ने अपना एक बड़ा हाल दामोदरजी के मन्दिर तथा प्रार्थनागृह के रूप में जनता के लिए खोल दिया था। तब से मड़गाँव के निवासी वहीं जाकर अपनी भक्ति और उपासना की पिपासा शान्त किया करते थे। इसी सारस्वत ब्राह्मण-कुल में १८५४ ई. के अप्रैल में सुब्राय का जन्म हुआ। स्कूली शिक्षा उन्हें ज्यादा दिन प्राप्त नहीं हो सकी थी, तथापि घर मे ही उन्होने पहले तो पुर्तगाली तथा लैटिन और बाद में फ्रांसीसी तथा संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। मेधावी तरुण सुब्राय को एक उत्तम आचार्य मिल गये थे, जिनके पास उन्होंने संस्कृत भाषा में न्याय, मीमांसा, वेदान्त, वैद्यक तथा ज्योतिष आदि शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। वेदान्त एवं आयोर्वेद मे उनकी विशेष गति थी। युवावस्था में ही द्वितीय पत्नी का भी देहान्त हो जाने के बाद से वे समाजसेवा की ओर आकृष्ट हुए। दीन-दुखी रोगियो की वे नि:शुल्क चिकित्सा किया करते थे। उन्हीं के प्रयासो से मड़गाँव मे मराठी विद्यालय स्थापित हुआ। १८८२ ई. में उन्होने 'गोवामित्र' नाम से एक मराठी मासिक आरम्भ किया। कुछ वर्षो बाद उनके बन्द हो जाने पर १८८५ ई. मे उन्होने 'गोवात्मा' साप्ताहिक की शुरुआत की। यह पत्रिका भी केवल चार-पांच वर्ष ही चली। अल्पकालिक होने के बावजूद गोवा के मराठी पत्रकारिता के इतिहास मे इनका महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी पत्रिकाओ मे वे शिक्षा तथा समाजसुधार जैसे विषयो को ही प्राधान्य देते थे। १८८७ ई. मे उन्होने 'हिन्दू सार्वजनिक सभा' तथा आगामी वर्ष नगर के प्रथम सार्वजनिक वाचनालय का शुभारम्भ किया। १९०३ ई. मे उन्होने जाम्बावाली में अपने 'भीष्म-प्रतिज्ञा' नाटक का मंचन किया, जिसमे वे स्वयं ही भीष्म-पितामह की भूमिका मे उतरे थे। १९१२ ई. में उन्हाने अपनी 'त्रिमतोपन्यास' नामक पुस्तिका के माध्यम से शंकर, रामानुज तथा मध्व के सिद्धान्तो की सक्षिप्त मीमांसा

की। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि श्री सुब्राय नायक समकालीन गोवा के सांस्कृतिक एवं सामाजिक नवजागरण में अग्रदूत की भूमिका निभा रहे थे और युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के साथ उनका मिलन एक अलौकिक संयोग ही कहा जा सकता है।

अपने घर में स्वामीजी को अतिथि के रूप में ठहराकर सुब्राय नायक ने उनके प्रति विशेष श्रद्धा एवं प्रीति का प्रदर्शन किया। स्वामीजी को उत्तम भोजन कराने तथा उन्हें अपने अंचल के विविध प्रकार के व्यंजनों का आस्वाद कराने में उन्होंने विशेष रुचि ली। स्वामीजी के व्यक्तित्व एवं विचारधारा के सभी पहुलओं में सहजता के साथ गहनता का अभूतपूर्व सम्मिश्रण देखकर वे ठगे-से रह जाते थे। दोनों ही संस्कृत भाषा एवं उसके वाङ्मय में निष्णात थे; दोनों की धर्मशास्त्रों और विशेषकर प्रस्थानत्रय में गहरी पैठ थी, अतएव हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि उनके बीच संस्कृत में होनेवाली चर्चाएँ किस स्तर की होती होंगी। स्वामीजी के सम्पर्क में आकर सर्व विषयों में उनका अगाध पाण्डित्य, समाजोद्धार के लिए उनकी आन्तरिक आकुलता, वैदिक तत्त्वज्ञान के माध्यम से लोगों को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता और सर्वोच्च आर्दश के प्रति उनकी अदम्य निष्ठा को देखकर सुब्राय नायक श्रद्धाभिभूत हो गये थे।

स्वामीजी के गोवा जाने का एक मुख्य हेतु था – देश का परिदर्शन। सुब्राय नायक ने स्वामीजी को वहाँ के सभी प्रमुख दर्शनीय स्थानों – विशेषकर वहाँ के धर्मपीठ, पुराने चर्च, फोंड़ा अंचल के मन्दिर तथा पुराने देवालयों के अवशेष आदि दिखाने की व्यवस्था कर दी थी। स्वामीजी ने अपने गोवा-भ्रमण का थोड़ा विवरण मड़गाँव से ही हरिपद मित्र को लिखे अपने पत्र में इस प्रकार दिया है – "मैं यहाँ सकुशल पहुँच गया हूँ। मैं पंजिम, उसके आसपास के कुछ गाँव तथा वहाँ के मन्दिरों को देखने गया था। आज ही लौटा हूँ। गोकर्ण-महाबलेश्वर तथा अन्य स्थानों के दर्शन की इच्छा का मैंने त्याग नहीं किया है। कल सुबह की गाड़ी से मैं धारवाड़ जा रहा हूँ। ... पंजिम शहर बहुत ही साफ-सुथरा है। यहाँ के अधिकांश ईसाई साक्षर हैं। हिन्दू अधिकांशत: अशिक्षित हैं।"

गोवा में स्वामीजी कौन कौन से स्थान देखने गये थे, इसका सविस्तार विवरण नहीं मिलता। अभी हाल ही में ज्ञात हुआ है कि वे वहाँ से महाराष्ट्र के दक्षिण-पश्चिम सीमा पर स्थित वेंगुर्ला नामक कसबा देखने भी गये थे। वेंगुर्ला नगर वाचनालय के १८७२-१९५२ ई. के मराठी में प्रकाशित प्रतिवेदन में लिखा है – "स्वामी विवेकानन्द जब वेंगुर्ला में आये थे, उस समय उन्होंने (यहाँ) 'संचित, प्रारब्ध व क्रियमाण' विषय पर हिन्दी में एक सुबोध व्याख्यान दिया था।"

वेंगुर्ला का थोड़ा सा परिचय देने से स्वामीजी का वहाँ जाने का कारण स्पष्ट हो जायेगा। १६३६ ई. में हालैण्ड से आयी डच व्यापारिक तथा साम्राज्यवादी कम्पनी ने यहाँ पर अपने गोदामों का निर्माण कराया था। १६६० ई. में यह स्थान शिवाजी के और १६६६ ई. में सावंतवाड़ीकर वंश के अधिकार में आया। तदुपरान्त सावंतवाड़ीकर राजपरिवार ने १८१२ ई. में इसे अंग्रेजों को सौंप दिया। डच गोदामों की इमारत का सम्प्रति न्यायालय आदि के लिए उपयोग किया जाता है। १८६९ ई. में वहाँ एक दीपस्तम्भ का निर्माण कराया गया, जिसकी ऊँचाई २५० फीट है। सागरतट पर स्थित होने के कारण वेंगुर्ला उन दिनों जल परिवहन का एक प्रधान केन्द्र था।

स्वामीजी की संगीत-कला में निपुणता भी गोवावासियों के समक्ष अभिव्यक्त हुई थी। श्री द. न. दलाल अपनी पूर्वोक्त पुस्तिका में लिखते हैं – "कावला के शान्तदुर्गा मन्दिर में उन्होंने ताल-लय के साथ अपने सुमधुर स्वर में काली-माता का एक भजन गाकर वहाँ समवेत श्रोतृमण्डली को मुग्ध कर दिया था। उस समय लोगों की समझ में आया कि बाहर से वेदान्त-ज्ञान का तेज दीख पड़ने के बावजूद उनके अन्तर में काली देवी के प्रति असीम भक्ति है। मरादोल के म्हालसा देवी के समक्ष उन्होंने एक खयाल गाकर सुनाया। श्री मंगेश के मन्दिर में उन्होंने एक सुन्दर राग में श्रुतिमधुर ध्रुपद की तान छेड़कर वहाँ उपस्थित लोगों को अपने गायन का कायल कर दिया था। मड़गाँव के सुब्राय बाबा के हॉल में भी वे किसी राग में एक चीज पौन घण्टे तक गाते रहे, जिसे सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये।

"तबला बजाने में भी वे वैसे ही निष्णात थे। सुब्राय बाबा ने वहाँ खाप्रूजी पर्वतकर को बुलवाकर द्रुत लय में उनसे तबला वादन कराया। स्वामीजी ने कहा कि लकड़ी के खोल के किनारे पर अँगुली चलाने पर जैसी ध्वनि निकलती है, वैसी ही आवाज चमड़े के सतह पर से भी निकलनी चाहिए। खाप्रूजी को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने धीरे से पूछा कि कहीं वे हँसी तो नहीं कर रहे हैं। स्वामीजी कोच पर से नीचे उतर आये और बैठकर उन्होंने तबले के चर्म से ऐसी मधुर आवाज उत्पन्न की कि वहाँ बैठे सभी लोग विस्मित रह गये। खाप्रूजी ने क्षमा माँगते हुए उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। गाते समय स्वामीजी के ओठों पर कोई विकृति या किसी तरह

का अंगविक्षेप नहीं दीख पड़ता था। सहज भाव से गायन-विद्या पर चर्चा करते हुए वे बोले कि आवाज में खासियत तब आती है, जब गायक का मुख इतने से.मी. से अधिक न खुले।'' खाप्रूजी उर्फ लक्ष्मणराव पर्वतकर भी आधुनिक भारतीय संगीत की एक असाधारण विभूति थे। संक्षिप्त जीवन-परिचय इस प्रकार है – इन प्रख्यात तबला-वादक का जन्म गोवा के ही पर्वती ग्राम में एक परम्परागत संगीत-घराने में हुआ था। अपने मामा श्री रघुवीर के पास उनके सारंगीवादन तथा अपने चाचा श्री हरिश्चन्द्र से तबलावादन की शिक्षा हुई। किसी अन्य से उन्होंने ध्रुपद-धामर की तालीम भी ग्रहण की थी। उनमें नैसर्गिक रूप से ही लयकारी की अच्छी समझ थी। इस क्षेत्र में उन्होंने विविध प्रकार के अनेक नवीन तथा अद्भुत प्रयोग किये और ताल के जानकारों के बीच महान् कीर्ति हासिल की। मूल लय को कितने ही गुना करके वे सहज ही बजा लेते थे। इसी प्रकार वे एक ही साथ, एक पॉव से त्रिताल, दूसरे पाँव से झापताल, एक हाथ से लय तथा दूसरे से चौताल को पकड़े, मुख से मूल ठेका बोलते रहते थे। १९३८ ई. में बम्बई के कलाकारो तथा संगीत-प्रेमियों ने उनके सम्मान में एक समारोह का आयोजन करके विख्यात गायक अल्लादिया खॉ के हाथो उन्हे 'लयभास्कर' की उपाधि से विभूषित किया। ऐसे उदीयमान कलाकार का अपनी तरुणवस्था में स्वामीजी के सम्पर्क मे आना उनके जीवन का एक महान् सौभाग्य ही माना जाना चाहिए।

गोवा के ग्रन्थलयों में उपलब्ध प्राचीन लैटिन ग्रन्थों से ईसाई धर्म तथा उनके इतिहास का सविस्तार अध्ययन करना – यह भी स्वामीजी के वहाँ आने का एक प्रमुख कारण था। इसके साथ ही वे स्थानीय समाज पर ईसाईकरण के प्रभाव का भी अनुशीलन करना चाहते थे। ईसाई धर्म विषयक अनेक दुर्लभ ग्रन्थ रायतूर की सेमिनरी मे उपलब्ध थे। सुब्राय नायक ने मड़गॉव के सुप्रसिद्ध वकील जुजे फिलिप अल्वारिस को अपने घर बुलाकर स्वामीजी का उनसे परिचय करा दिया। श्री अल्वारिस स्वामीजी से मिलकर तथा उनसे बातचीत करके बड़े मुग्ध हुए। स्वामीजी की इच्छा से अवगत होने के बाद उन्होने कहा कि वे अपने एक पादरी मित्र के माध्यम से रायतूर की सेमिनरी मे स्वामीजी के दो दिन ठहरने तथा वहाँ उपलब्ध प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो को दिखलाने की व्याख्या करा देगे।

इस प्रकार स्वामीजी के रायतूर जाने का प्रबन्ध हो गया। वहाँ की सेमिनरी मे कई दिन रहकर उन्होने अध्ययन किया और आवश्यकतानुसार कुछ नोट्स भी बनाये।[१] सेमिनरी के प्रमुख फादर भी स्वामीजी से चर्चा करके उनके विविध विषयों के अगाध ज्ञान तथा तीक्ष्ण मेधाशक्ति से बड़े प्रभावित हुए। वहाँ अन्य पादरीगण भी स्वामीजी से मिले और सैकड़ो विद्यार्थियों ने भी उनसे विविध प्रकार के प्रश्न किये। स्वामीजी ने उन लोगों के समक्ष स्पष्ट किया कि ईसा-मसीह द्वारा प्रतिपादित धर्म का उनके मतानुसार स्वरूप क्या है। तीसरे दिन अपना मुख्य कार्य समाप्त करके वे मड़गाँव लौट आये।

सुब्राय नायक ने श्री दामोदर विद्यालय में स्वामीजी के सम्मान में एक बड़ी सभा का आयोजन किया और उसमें स्वामीजी का गुणानुवाद करते हुए कहा – हम गोवावासियों की हार्दिक इच्छा है कि आपको धर्ममहासभा मे सफलता मिले। रायतूर की सेमिनरी में उनकी लोकप्रियता के कारण इस सभा में अनेक पादरी भी आये थे। मड़गाँव में उनके निवास के दौरान दूर दूर के पादरी बड़ी आन्तरिकता के साथ उनसे मिलने आया करते थे। ईसाई समाज के अनेक विद्वान्, बैरिस्टर तथा न्यायाधीश तक सुब्राय बाबा के घर आकर स्वामीजी के सामने जी खोलकर प्रश्न करते थे और अपनी आवश्यकतानुसार जानकारी हासिल कर लेते थे। स्वामीजी की उत्तर देने की पद्धति पर सबको बड़ा विस्मय होता था। अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा लैटिन भाषाओं में उनके विचारों का प्रवाह चलता ही रहता था। सभी धर्मों के तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण हिन्दू समाज के एक अधिकारी व्यक्ति को पहली बार देखने के कारण उन सबको आश्चर्य होता था और वे स्वामीजी की विद्वत्ता तथा सरलता की प्रशंसा करते नहीं थकते थे।

स्वामीजी जब अपनी यात्रा जारी रखने को मड़गाँव से प्रस्थान करने लगे, तो रेलवे स्टेशन पर श्री सुब्राय नायक सहित वहाँ के अनेक प्रतिष्ठित लोग तथा और भी सैकड़ों नागरिक उन्हें भावभीनी विदाई देने को उपस्थिति थे। इस समुदाय में अनेक कैथलिक पादरी भी थे।

स्वामीजी के प्रस्थान करने के पूर्व ही श्री सुब्राय नायक ने उनका एक फोटोग्राफ माँग लिया था, जो अब भी उनके वंशजो के पास सुरक्षित रखा है। वही चित्र परिवर्धित आकार में दामोदरजी के मन्दिर में भी टँगा है। परवर्ती काल में श्री सुब्राय नायक नवम्बर, १९१० ई. में संन्यास लेकर 'स्वामी सुब्रह्मण्यानन्द तीर्थ' हो गये और बाकी जीवन, स्वामीजी जिस कमरे मे ठहरे थे, उसी में निवास किया।

---

* ईसाई धर्म के इतिहास के बारे मे स्वामीजी के अगाध ज्ञान की सूचक एक घटना हमे स्वामीजी के जीवन मे मिलती है। अपनी द्वितीय पाश्चात्य-यात्रा से लौटते समय स्वामीजी के साथ ईसाई जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान फादर लायसन भी यात्रा कर रहे थे। अपने इस काल के संस्मरणो मे मादाम काल्वे लिखती है, "विद्वान तथा सुप्रसिद्ध धर्माचार्य फादर लायसन के साथ स्वामीजी हर प्रकार के प्रश्नो पर चर्चा किया करते थे। उस समय एक बड़ी ही रोचक बात जो दीख पड़ती थी, वह यह है कि स्वामीजी चर्च-सभाओ की तिथि तथा दस्तावेजो के मूल पाठ तक उद्धृत करने मे सक्षम थे, जबकि स्वयं लायसन उनके विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही बोल पाते थे।'' (Reminiscenes Of Sw Vivekanand, Ed, p, 268)

स्वामीजी की महासमाधि के कुछ काल बाद से ही गोवा में उनकी जन्मतिथि मनाने की प्रथा आरम्भ हुई। श्री जनार्दन माधव कीर्तनी मुरगाँव में रेल-विभाग के एक उच्च पदस्थ अधिकारी थे। वे अपनी मित्र-मण्डली के बीच स्वामीजी की अँग्रेजी ग्रन्थावली से उनके विचार सुनाया करते थे। वे ही इन महान् विभूति की पुण्यतिथि मनाने का भी आयोजन करते थे। एक वर्ष श्री जनार्दन कीर्तनी ने मड़गाँव आकर सुब्राय बाबा से हार्दिक अनुरोध किया कि उस बार के कार्यक्रम की अध्यक्षता वे ही करें। सुब्राय बाबा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और वे निर्धारित तिथि को मुरगाँव गये। वहाँ पर अध्यक्षीय भाषण करते हुए उन्होंने स्वामीजी का गुणगान किया और उनके महान् कार्य के विषय में विवरण देकर उनके उद्‌बोधक विचार प्रस्तुत किये। वे अपने भाषण का समापन करते हुए बोले, "स्वामीजी के समान परमहंस अवस्था में प्रतिष्ठित महान् लोगों के लौकिक बन्धन नहीं होते – **निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतां को विधिः को निषेधः।**" उनके इस भाषण का मुरगाँव निवासियो पर चिरस्थायी प्रभाव हुआ था।

मायावती से प्रकाशित आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के फरवरी-मार्च १९१५ ई. के अंक में भी इसी प्रकार अद्वैत कोटरी, वास्को-द-गामा में १० जनवरी को मनाई गयी स्वामीजी की ५२वीं जन्मतिथि के कार्यक्रम का एक रिपोर्ट मुद्रित हुआ है। इस सभा की अध्यक्षता भी उन्होंने ही की थी। रिपोर्ट में लिखा है – "H. H. Swami Subrahnanyananda Tirtha lectured at length, in Marathi on the life and Mission of Srimat Swami Vivekananda and particularly described the personal interviews, His Holiness had, for some days at Margao with Swamiji. He cheifly dealt on those interviews. His Holiness having heard from Swamiji's own lips about the revelations of Vedanta and his mission for propagation of the same all over the world, was in a very good position to reveal to the gathering matters that were not yet published."

स्वामी सुब्रह्मण्यनन्द जी के उपरोक्त संस्मरण क्या लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हुए? यदि हुए हों, तो उनसे स्वामीजी के गोवा-भ्रमण तथा उनके विचारों पर कुछ नया प्रकाश पड़ने की भी सम्भावना है। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में सम्भव है इन व्याख्यानों का सविस्तार विवरण निकला हो। इस दिशा में आगे शोध की आवश्यकता है।

दामोदर मन्दिर से लगे जिस कमरे में स्वामीजी ठहरे थे उसी मे सुब्राय बाबा ने २ जनवरी, १९१६ ई. को अपनी अन्तिम साँस ली। वह कक्ष अब भी वैसे ही सुरक्षित रखा है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

(गोवा से स्वामीजी दक्षिण की ओर गये। फिर अमेरिका जाने के पूर्व वे और भी दो बार मुम्बई आये थे, विवरण आगामी अंक में ...)

मेरी भावना

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥१॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो, हे चित्त, उसी में लीन रहो ॥२॥
विषयों की आशा नहिं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं।
निज-पर के हित साधन में जो, निशिदिन तत्पर रहते हैं ॥३॥
स्वार्थत्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी-साधु जगत् के दुःख-समूह को हरते हैं ॥४॥
रहे सदा सत्संग उन्हीं का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे।
उनकी ही सी चर्या में, यह चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥५॥
नहीं सताऊँ किसी जीव को, झूठ कभी बोला न करूँ।
पर धन-वनिता पर न लुभाऊँ, संतोषामृत पिया करूँ ॥६॥
अहंकार का भाव न रखूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या-भाव धरूँ ॥७॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल-सत्य व्यवहार करूँ।
बने जहाँ तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूँ ॥८॥
मैत्री-भाव जगत् में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन-दुखी जीवों पर मेरे, उर का करुणा-स्रोत बहे ॥९॥
दुर्जन क्रूर कुमार्ग-रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥१०॥
गुणीजनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आये।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पाये ॥११॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आये।
गुण-दर्शन का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जाये ॥१२॥
कोई बुरा कहे या अच्छा, लक्ष्मी आये या जाये।
लाखों बर्षों तक जीऊँ या, मृत्यु आज ही आ जाये ॥१३॥
अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आये।
तो भी न्याय-मार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पाये ॥१४॥
होकर सुख में मग्न न फूले, दुःख में कभी न घबराये।
पर्वत, नदी श्मशान भयानक, अटवी से नहिं भय खाये।१५।
रहे अडोल अकम्प निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जाये।
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में, सहनशीलता दिखलाये।१६॥
सुखी रहें सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबराये।
बैर पाप अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गाये ॥१७॥
घर घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जायें।
ज्ञानचरित उन्नत कर अपना, मनुज-जन्म फल सब पायें।१८॥
ईति भीति व्यापै नहीं जग में, वृष्टि समय पर हुआ करे।
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे ॥१९॥
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे।
परम अहिंसा धर्म जगत् में, फैल सर्वहित किया करे ॥२०॥
फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर पर रहा करे।
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द, नहिं कोई मुख से कहा करे।२१॥
बनकर सब 'युगवीर' हृदय से, देशोन्नति रत रहा करें।
वस्तु स्वरूप विचार खुशी से, सब दुख संकट सहा करें ॥२२॥

आचार्य रामानुज (२४)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेनै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर मे उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

२२. श्रीभाष्य की रचना

एक दिन शिष्यों के समक्ष श्री यामुनाचार्य का गुणगान करते समय यतिराज को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। जब कावेरी-तट पर चिता के समीप उन महात्मा का शरीर शायित था, उसी समय श्री रामानुज ने वहाँ उपस्थित होकर देखा था कि उनके दाहिने हाथ की तीन अंगुलियाँ मुष्टिबद्ध है। उन्होने इसका मर्म समझकर जब उनके समक्ष तीन प्रतिज्ञाएँ की, तो वे अंगुलियाँ खुलकर अपनी स्वभाविक स्थिति में आ गयी थीं। उन्होंने अपनी उन प्रतिज्ञाओं का स्मरण करते हुए शिष्यों से कहा, "मैं श्रीभाष्य की रचना करने को यामुनमुनि के प्रति वचनबद्ध हूँ, परन्तु अब तक इस विषय में कुछ हो नही सका है। वह ग्रन्थ लिखने के लिए बोधायन-वृत्ति की सहायता लेनी होगी। महर्षि बोधायन द्वारा रचित वह वृत्ति इस अंचल मे दुर्लभ है। बहुत ढूँढ़ने पर भी मै सफल नही हो सका हूँ। सुना है कि वह काश्मीर के सारदापीठ में बड़े यत्नपूर्वक रखी हुई है। कुरेश के साथ आज ही मैं वहाँ के लिए प्रस्थान करूँगा। हे भगवान के भक्तो, तुम लोग श्री विष्णु से प्रार्थना करो कि हम सफल होकर लौट सके।"

इस प्रकार शिष्यो से विदा लेने के बाद श्री रामानुज कुरेश के साथ चल पड़े और तीन माह बाद सारदापीठ जा पहुँचे। वहाँ की पण्डित-मण्डली के साथ उनकी भेंट तथा काफी शास्त्र-चर्चा हुई। पण्डितगण उनकी शास्त्र-निपुणता, वाग्विदग्धता एवं ज्ञान-गम्भीरता देखकर अत्यन्त विस्मित हुए और उन्हे दुर्लभ अतिथि जानकर उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। श्री रामानुज द्वारा बोधायन-वृत्ति का उल्लेख करने पर अद्वैतवादी पण्डितो ने सोचा कि इन्हे वह ग्रन्थ दिखाना उचित नही, क्योकि इनका सिद्धान्त महर्षि बोधायन द्वारा अनुमोदित है। यदि इन महापुरुष को वह ग्रन्थ देखने को मिल जाय, तो ये अपने मत को दृढ़तर करके अद्वैतवाद के महान् प्रतिद्वन्द्वी हो जायेंगे। ऐसा निश्चय कर उन लोगो ने कहा, "महात्मन्, वह पुस्तक हमारे यहाँ थी तो जरूर, परन्तु दुर्भाग्यवश उसे कीड़ो ने खाकर नष्ट कर डाला।"

यह सुनकर यतिराज अतिशय खिन्न हुए। उन्होंने सोचा कि उनका सारा परिश्रम व्यर्थ गया। कहते है कि जब वे इसी प्रकार दुखी मन के साथ सोये हुए थे, उसी समय सारदा देवी स्वयं वह ग्रन्थ हाथ में लेकर आयी और यतिराज को सौंपते हुए बोलीं, "वत्स, तुम यह पुस्तक लेकर अविलम्ब अपने देश लौट जाओ। क्योकि इन लोगो को यह बात ज्ञात हो जाने पर तुम्हारे लिए पुस्तक ले जाना असम्भव हो जायेगा।" यह कहकर वे अन्तर्धान हो गयीं। श्री रामानुज ने वीणापाणि का दुर्लभ दर्शन, अनुग्रह तथा आदेश पाकर स्वयं को कृतकृत्य माना और यथाशीघ्र पण्डित-मण्डली से विदा लेकर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया।

इस घटना के कुछ दिन बाद सारदापीठ के अन्तेवासियों ने ग्रन्थागार की सफाई करने की इच्छा से समस्त पुस्तकों को क्रमश: बाहर निकाला और कही वे कीटग्रस्त तो नही हुए हैं, इसका विशेष ध्यान रखते हुए उनकी सफाई करने लगे। इस प्रकार ग्रन्थो का निरीक्षण करते समय उसमे बोधायन-वृत्ति को न देखकर वे लोग अतीव उद्विग्न हो गये और थोड़ी देर बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अवश्य ही दक्षिण के वे दो पण्डित उसे चुरा ले गये हैं। उनमें से कुछ बलवान पुरुष तत्काल उनका पीछा करने को निकल पड़े और एक माह दिन-रात चलने के बाद पता चला कि बोधायन-वृत्ति उनके पास है, तो उन क्षुद्रचित्त पाण्डित्याभिमानी मुर्खों ने बिना कुछ कहे-सुने ग्रन्थ उनसे जबरन छीन ली और स्वदेश की ओर लौट पड़े।

इस पर श्री रामानुज के विषाद की सीमा न रही। गुरु की यह अवस्था देखकर कुरेश ने कहा, "आश्रितवत्सल, आप दुखी न हो। काश्मीर से यात्रा प्रारम्भ करने के बाद से ही हर रात आपके सोते समय मै उस वृत्ति को पढ़ा करता था। इस प्रकार पूरा ग्रन्थ मुझे कण्ठस्थ हो गया है। मैं अभी उसे लिख डालता हूँ। पाँच-छह दिनों में यह कार्य पूरा हो जायेगा।" यह सुनकर श्री रामानुज को असीम आनन्द हुआ। उन्होने प्रेमपूर्वक कुरेश का दृढ़ आलिगन करते हुए कहा, "वत्स, तुम चिरंजीवी होओ। आज तुमने मेरे खोये रत्न का उद्धार करके मुझे चिरकाल के लिए ऋणी बना लिया।" पुस्तक लिखना समाप्त हो जाने के बाद वे लोग अविलम्ब श्रीरंगम जा पहुँचे।

यतिराज ने शिष्यो को पथ का सारा वृत्तान्त बताने के बाद कहा, "हे भगवान के परम भक्तो, तुम्हारी भक्ति के बल तथा कुरेश की असाधारण मेधाशक्ति से बोधायन-वृत्ति प्राप्त हुई है। जो कुदृष्टि-परायण लोग 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यो के अर्थज्ञान को ही नि:श्रेयस् या मोक्षप्राप्ति का एकमात्र उपाय मानते है, अथवा जो ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वाणी

वाले लोग उक्त अर्थज्ञान के साथ यज्ञ-दान-तप: आदि कर्मों की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं, अब मैं उन समस्त अदूरदर्शियों के मत का खण्डन करके ज्ञान-उपासना-भक्ति द्वारा मोक्षप्राप्ति ही वेद-वेदान्त का अभिप्राय है – इसका प्रतिपादन करते हुए श्रीभाष्य की रचना आरम्भ करूँगा। तुम लोग श्री भगवान के पादपद्मों में प्रार्थना करो कि यह कार्य समाप्त हो जाय। वत्स कुरेश, तुम्हीं मेरे लेखक बनो। परन्तु जब भाष्य-विषयक कोई युक्ति तुम्हें समीचीन न लगे, तब तुम लिखना बन्द करके चुपचाप बैठ जाना। इस प्रकार मुझे उस युक्ति पर पुन: विचार करने का अवसर मिलेगा और मुझे यदि वह भ्रमात्मक प्रतीत हुई, तो मैं तुरन्त उसमें परिवर्तन कर दूँगा।''

इस प्रकार श्रीभाष्य की रचना आरम्भ हुई। सम्पूर्ण भाष्य के लेखन के दौरान कुरेश को केवल एक बार ही लिखना बन्द करना पड़ा था। एक बार जीव के स्वरूप का निर्णय करते समय यतिराज ने कहा, ''जीव स्वरूपत: नित्य व ज्ञाता है।'' यह सुनकर कुरेश की लेखनी थम गयी। गुरु द्वारा बारम्बार लिखने का आदेश दिये जाने पर भी उन्होंने उसका पालन नहीं किया। इस पर श्री रामानुज किंचित् नाराजगी व्यक्त करते हुए बोले, ''कुरेश, यदि तुम्हें ऐसा ही आचरण करना है, तो फिर श्रीभाष्य तुम्हीं लिखो।'' परन्तु ऐसा कहने के क्षण भर बाद ही उनके मन मे आया, ''जीव यदि स्वरूपत: नित्य व ज्ञाता हो, तो फिर उसे स्वतंत्र तथा देहाभिमान-विशिष्ट करने में क्या हानि है? पर जब श्री भगवान कहते हैं – **ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:** तो फिर जीव परतंत्र-भिन्न कभी स्वतंत्र नही हो सकता। उसके सर्व प्रकार से ईश्वर के अधीन होने के कारण ईश्वर को अंशी या शेषी और जीव को अंश या शेष कहना ही उचित है।'' ऐसा निश्चय करके जब उन्होंने जीव-स्वरूप को विष्णु-शेषत्व-संयुक्त तथा ज्ञातृत्व-विशिष्ट के रूप में प्रतिपादित किया, तब कुरेश ने पुन: लिखना आरम्भ किया। इस प्रकार श्रीभाष्य की रचना पूरी हुई।

इस महान् कार्य की समाप्ति के पश्चात् यतिराज ने 'वेदान्त-दीपम्', 'वेदान्त-सार', 'वेदार्थ-संग्रह' तथा 'गीता-भाष्य' नामक और भी चार अमूल्य ग्रन्थों का प्रणयन किया। श्रीभाष्य की रचना के द्वारा उन्होंने यामुनमुनि की द्वितीय अभिलाषा पूरी की। द्रविड़-प्रबन्धमाला अपने शिष्यों को पढ़ाकर, उन्हें 'द्रविड़-वेद' की संज्ञा प्रदान करके और वेदों के समान आसन पर समासीन कराकर वे पहले ही उक्त महात्मा की प्रथम अभिलाषा पूर्ण कर चुके थे। अब अपने मत को 'विशिष्टाद्वैत' नाम देकर उन्होंने स्वयं को कृतकृत्य माना।

२३. दिग्विजय

श्रीभाष्य आदि का लेखन समाप्त करने के उपरान्त यतिराज अपने चौहत्तर प्रधान शिष्यों तथा अन्य असंख्य अनुयाइयों को साथ लेकर दिग्विजय करने निकल पड़े। सर्वप्रथम वे चोल-मण्डल में जाकर वहाँ की राजधानी कांचीपुर पहुँचे। वहाँ श्री वरदराज की अनुमति लेकर उन्होंने कुम्भकोणम की यात्रा की। वहाँ के विद्वानों को शास्त्रार्थ के द्वारा परास्त करके अपना मत स्वीकार कराने के बाद श्री रामानुज पाण्ड्य-देश की राजधानी मदुरा में पहुँचे। यह नगरी द्रविड़ विद्वानों के लिए गढ़-जैसी थी। द्रविड़ प्रबन्धमाला की व्याख्या करके वे उन सबको अपने मत में ले आये। वहाँ कुछ दिन बिताने के बाद वे कुरंग नगरी को गये और वहाँ के श्री विष्णु विग्रह का दर्शन कर असीम आनन्द का बोध किया। कहते हैं कि श्री रामानुज की अतुल्य लोकसंग्रह एवं लोकरक्षण की क्षमता देखकर श्री विष्णु अतीव प्रसन्न हुए और उन लीलामय हरि ने लीला-परतंत्र होकर यतिराज का शिष्यत्व तथा उनका 'वैष्णव-नम्बी' नाम ग्रहण करके स्वयं को कृतकृत्य माना। तदुपरान्त वे सठरिपु के जन्मस्थान कुरुकापुरी गये। वहाँ के मुख्य देवालय में श्री शठारि-विग्रह का दर्शन कर वे आनन्द-सागर में निमग्न हुए और उन वैष्णवप्रधान की स्तुति करके स्वयं को धन्य माना।

वहाँ से वे केरल या मलाबार देश गये और राजधानी तिरुअनन्तपुरम में अनन्तशायी पद्मनाभ स्वामी का दर्शन कर भावविभोर हो गये। यहाँ से उन्होंने उत्तर की राह पकड़ी और वे क्रमश: द्वारावती, मथुरा, वृन्दावन, शालग्राम, साकेत, बदरिकाश्रम, नैमिषारण्य, पुष्कर आदि का दर्शन करते हुए काश्मीर में स्थित सारदापीठ जा पहुँचे। कहते हैं कि सारदा देवी उनसे **'कप्यासं पुण्डरीकाक्षम्'** मंत्र की व्याख्या सुन परम सन्तुष्ट हुई और उन्हें 'भाष्यकार' की आख्या प्रदान किया।

काश्मीरी पण्डितों ने रामानुज के साथ विवाद किये बिना नहीं छोड़ा; यहाँ तक उनके प्राणनाश की इच्छा से अभिचार भी किया था। पर इसका फल उल्टा हुआ। इसके फलस्वरूप अभिचारकर्ताओं के ही प्राण संकट में पड़ गये। इस पर जब काश्मीर-नरेश ने श्री रामानुज के चरणों में आकर कृपा-याचना की, तब उन्होंने सबको स्वस्थ कर दिया। राजा तथा पण्डित अविलम्ब उनके शिष्य हो गये। यहाँ पर श्रीरामानुज ने भगवान हयग्रीव की मूर्ति का दर्शन कर अपने को कृतार्थ माना। सारदा देवी का आदेश पाकर यतिराज काशीधाम गये। वहाँ कुछ काल रहकर अनेक दार्शनिक पण्डितों को अपना अनुयायी बनाने के बाद अन्तत: वे दक्षिण की ओर लौट पड़े।

कुछ दिनों बाद उन्होंने श्री पुरुषोत्तम-क्षेत्र (पुरी) पहुँचकर वहाँ कुछ काल विश्राम किया। अपने मत को सुप्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने वहाँ एक मठ का निर्माण कराया और अपने शिष्य गोविन्द के नाम पर उसे 'एमार मठ' के नाम से अभिहीत किया। वहाँ के पण्डितों से भी उन्होंने शास्त्रार्थ करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु परास्त होने के भय से वे लोग राजी नहीं हुए। यह देखकर श्री रामानुज वहाँ अपने मत की प्रतिष्ठा करने को बड़े आग्रही हुए। उन्होंने श्री जगन्नाथदेव के

अर्चको को पंचरात्र-आगम के अनुसार श्री पुरुषोत्तम की सेवा करने का अनुरोध किया। उन लोगों द्वारा स्मार्त-मत त्यागकर यह नवीन मत ग्रहण करने को राजी न देखकर उन्होंने राजा के पास अपनी वाद करने की आकांक्षा व्यक्त की। इससे अर्चकगण भयभीत होकर श्री पुरुषोत्तम के शरणागत हुए। कहते है कि उसी रात रामानुज निद्रावस्था में जगन्नाथ जी द्वारा सौ योजन[१] दूर स्थित कूर्मक्षेत्र में फेंक दिये गये थे।

जागने पर उन्होंने पाया कि वे एक अलग ही देश में आ पड़े हैं। उनके असंख्य शिष्यों में से वहाँ कोई भी न था। पूछताछ से पता चला कि वे कूर्मक्षेत्र में आ पड़े हैं। इसे देवता की माया समझकर उन्होंने प्रातःकृत्य समाप्त किया और श्री कूर्मदेव के मन्दिर में गये। वहाँ अत्यन्त विनय एवं परम भक्ति के साथ उन्होने अवतार-मूर्ति का पूजन किया। भगवान ने उन पर प्रसन्न होकर अपने अर्चकों के माध्यम से उनसे थोड़े दिन वही ठहरकर अपने शिष्यों की प्रतीक्षा करने का अनुरोध किया। रामानुज राजी हुए। कुछ दिनों बाद अपने शिष्यों के साथ पुनः मिलकर वे सिंहाचलम गये। वहाँ कुछ दिन बिताकर वे गारुड़ पर्वत पर स्थित अहोबल के मन्दिर में पहुँचे। वहाँ एक मठ का निर्माण कराने के बाद उन्होंने ईशालिंगांग में जाकर श्री नृसिहदेव की पूजा की।

वहाँ से वे क्रमशः वेंकटाचल या तिरुपति पहुँचे। उस समय वहाँ के विग्रह को लेकर शैव तथा वैष्णव सम्प्रदाय के बीच विवाद चल रहा था। श्री रामानुज ने अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा सिद्ध किया कि वह निश्चित रूप से श्री विष्णु का ही विग्रह है। इससे शैव तथा वैष्णव दोनों ही सम्प्रदाय सन्तुष्ट हो गये। वहाँ कुछ काल निवास करने के पश्चात् रामानुज अपने शिष्यो के साथ कांचीपुर लौट आये और श्री वरदराज का दर्शन करके कृतार्थ हुए। वहाँ से मदुरान्तक का दर्शन करते हुए वे नाथमुनि की जन्मभूमि वीरनारायणपुर गये। वहाँ उन महामुनि के योगाभ्यास-स्थल को नमस्कार करने के उपरान्त आखिरकार वे श्रीरंगम जा पहुँचे और श्री रंगनाथ स्वामी का दर्शन कर स्वयं को धन्य एवं भाग्यवान मानते हुए परम आनन्द की उपलब्धि की।

२४. कुरेश

श्री रंगनाथ के उत्तमपूर्ण नामक एक अर्चक ने 'लक्ष्मीकाव्य' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमे उन्होने कुरेश की जो जीवनी दी है, अब हम उसे ही प्रस्तुत करते हैं। कुरेश वात्स्य गोत्र मे जन्मे एक धनाढ्य ब्राह्मण थे। कांचीपुर से दो मील पश्चिम मे स्थित कुर-अग्रहार नामक स्थान में उनका निवास था। वहाँ के जमीदार होने के कारण उनका नाम कुरनाथ या कुरेश हुआ था। आण्डाल नाम की एक उपयुक्त सहधर्मिणी का पाणिग्रहण करके वे अपनी विपुल सम्पत्ति दीन-असहायों की सेवा में व्यय करते थे। बाल्यकाल से ही उनकी श्री रामानुज के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी। यतिराज के संन्यास ग्रहण करने के उपरान्त, वे अपनी पत्नी के साथ उनके शिष्य हुए और प्रायः सर्वदा ही उनके साथ रहने लगे। उनका पाण्डित्य असीम था। उनकी स्मरण-शक्ति का परिचय हमें पहले ही मिल चुका है। वे एक बार भी जो कुछ पढ़ या सुन लेते, वह सदा के लिए उनके मन में अंकित हो जाता। इन्हीं की सहायता से श्री रामानुज ने शास्त्रार्थ में महापण्डित यादवप्रकाश को पराभूत किया था।

उनकी विशाल अट्टालिका मध्यरात्रि तक केवल **नीयतां दीयतां भुज्यताम्** – शब्दों से गूँजती रहती थी। इसके बाद उषाकाल में पुनः खुलने के लिए इसके विशाल द्वार बन्द हो जाते। श्री रामानुज के कांचीपुर छोड़कर श्रीरंगम जाने के बाद से उनकी सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य में कोई रुचि नहीं रह गयी।

कहते हैं कि श्री वरदराज की पत्नी जगन्माता लक्ष्मी ने एक बार एक गहरी रात के समय कुरेश का द्वार बन्द होने की ध्वनि को सुनकर कांचिपूर्ण से उस ध्वनि का कारण पूछा। उत्तर में उन्होंने कुरेश द्वारा निर्धनों की सेवा आदि की सविस्तार प्रशंसा करते हुए कहा, "माता, प्रातःकाल से लेकर अब तक दीन-दुखी, अन्ध-अपंगों आदि की सेवा चल रही थी। सारा कर्म समाप्त करने के बाद थोड़ी देर विश्राम करने की इच्छा से परिचारकों ने धर्मशाला का द्वार बन्द किया है। लोहे की किवाड़ों से युक्त विशाल द्वार के हर रात बन्द होते समय ऐसी ही ध्वनि हुआ करती है।" लक्ष्मीदेवी ने इस पर विस्मित होकर कुरेश को देखने की इच्छा व्यक्त करते हुए कांचिपूर्ण से कहा, "वत्स, कल प्रातःकाल उन महात्मा को मेरे पास लाओ, मैं उनका दर्शन करूँगी।"

दूसरे दिन कांचिपूर्ण ने जाकर कुरेश से भेंट की और उन्हें जगन्माता की इच्छा से अवगत कराया। इस पर वे बोले – "हे महात्मन् –

क्वाहं कृतघ्नो दुर्मनाः पापिष्ठः परवंचकः।
क्वासौ लक्ष्मी जगन्माता ब्रह्मरुद्रादि वन्दिता।।

– कहाँ तो मेरे जैसा कृतघ्न, दूषित-मन, पापी व कपटी और कहाँ ब्रह्म-रुद्र आदि द्वारा वन्दित जगन्माता लक्ष्मी! महापातक, महाव्याधि से ग्रस्त चाण्डाल को देवालय में प्रवेश का अधिकार ही कहाँ है? मै तो उससे भी अधम हूँ। विषय-विष्ठा ने मेरे हृदि-मन को पूर्णतः कलुषित कर रखा है। मुझे नहीं पता कि मुझे जीवन मे लक्ष्मी-दर्शन का अधिकार मिलेगा या नही।"

यह कहकर कुरेश ने आँसुओं की धारा बहाते हुए अपने अंग से समस्त बहुमूल्य आभूषण खोलकर फेंक दिये और अपने रेशमी वस्त्रो के स्थान पर फटे-चीथड़े पहनकर अपने

१. एक योजन लगभग नौ मील के बराबर होता है।

प्रासाद से निकलते हुए कांचिपूर्ण से बोले, "महाशय, मैं जगन्माता के आंदेश का उल्लंघन नहीं कर सकता। मै उनके श्री पादपद्मो के दर्शन हेतु जाने को तैयार होने जा रहा हूँ। विषय-विष्ठा से आच्छन्न यह देह-मन श्रीगुरु के चरणरज-रूपी अमृत-सरोवर में स्नान किये बिना कदापि शुद्ध नहीं होगा। अतएव मै स्नानार्थ चलता हूँ। पता नहीं कब तक मैं इस क्लेद से मुक्त हो सकूँगा। आपके समान महानुभाव का आशीर्वाद रहने पर सम्भव है इसी जीवन में जगन्माता के चरण-दर्शन का अधिकार पा जाऊँ।"

इसके बाद कुरेश श्रीरंगम की ओर चल पड़े। पतिदेव का ऐसा आचरण देख उनकी सहधर्मिणी आण्डाल ने भी उनका अनुसरण किया। पतिदेव को प्यास लगने पर उन्हें पानी पिलाने के निमित्त केवल एक स्वर्णपात्र ही उन्होंने अपने साथ लिया था। कुछ दूर जाने के बाद उन्होंने वन की राह पकड़ी। सूनसान वन में आण्डाल के मन में किंचित् भय का संचार होने पर उन्होंने पतिदेव से पूछा, "प्रभो, यहाँ कोई भय तो नही है?" इस पर कुरेश ने उत्तर दिया, "धनवानों को ही भय होता है। यदि तुम्हारे पास कोई धन आदि न हो, तो फिर भय की कोई बात नहीं; चली आओ।" यह सुनकर आण्डाल ने तत्काल स्वर्णपात्र को दूर फेंक दिया। अगले दिन वे श्रीरंगम जा पहुँचे। दम्पति के आने का संवाद पाकर श्री रामानुज परम स्नेह के साथ उन्हें अपने मठ में ले आये। स्नान-भोजन तथा विश्राम के द्वारा थकान दूर हो जाने पर, यतिराज ने उनके निवास के लिए एक अलग मकान निर्धारित कर दिया।

कुरेश भिक्षावृत्ति के द्वारा जीवन-निर्वाह करने लगे। वे निरन्तर श्रीगुरु द्वारा प्राप्त मंत्ररत्न का स्मरण, भगवान्नाम-कीर्तन, शास्त्रचर्चा, गुरुपादपद्म-दर्शन आदि विविध सदुपायों का आश्रय लेकर समय बिताने लगे। आण्डाल भी सदा उनकी सेवा में लगी रहकर उनका बचा हुआ प्रसाद ग्रहण करते हुए परम आनन्दपूर्वक जीवन बिताने लगीं। अपने अतुल वैभव की बात उन्हे बिल्कुल ही विस्मृत हो गयी। एक दिन दोपहर तक लगातार मूसलाधार वर्षा के कारण कुरेश भिक्षाटन को नही जा सके। अत: दम्पति ने पूरा दिन बिना कुछ खाये ही बिता दिया। भूख की बात एक बार भी उनके मन में नही आयी। परन्तु पतिसेवा-परायणा आण्डाल ने अपने पतिदेव को अनाहार देखकर मन-ही-मन श्री रंगनाथ स्वामी को यह बात बतायी।

इसके थोड़ी देर बाद ही एक पुजारी विविध प्रकार के बहुमूल्य प्रसाद लेकर आये और कुरेश को देकर चले गये। कुरेश ने इस पर विस्मित होकर पत्नी से पूछा, "तुमने क्या श्री रंगनाथ स्वामी से मन-ही-मन कुछ प्रार्थना की थी? नहीं तो जिस भोग को हम काकविष्ठा के समान त्याग आये हैं, क्यों वे उसी भोग के द्वारा हमें पुन: मुग्ध करने का प्रयास करते?" आँखों में आँसू भरे आण्डाल द्वारा अपना मनोभाव व्यक्त करने पर कुरेश ने कहा, "जो हुआ सो हुआ। परन्तु आगे कभी ऐसा मत करना।" ऐसा कहने के बाद उन्होंने महाप्रसाद को मस्तक पर धारण किया और सहधर्मिणी को उसे पूरा ग्रहण करने का आदेश दिया। उन्होंने स्वयं बारम्बार शठारिसुक्त की आवृत्ति करते हुए रात बितायी।

कहते हैं कि आण्डाल ने उस प्रसाद को ग्रहण करने के दस माह बाद (शकाब्द ९८३ के शुभकृत वर्ष में वैशाखी पूर्णिमा के अनुराधा नक्षत्र में) जुड़वा पुत्रों को जन्म दिया। श्री रामानुज यह सुनकर हर्षित हुए और गोविन्द को तत्काल नवजात शिशुओं का जातकर्म करने भेजा। गोविन्द ने जातकर्म सम्पन्न करने के बाद उनके कानों में – **श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये । श्रीमते नारायणाय नमः** – ये दो मंत्र सुनाकर उनके नवजात देह-मन का शुद्धीकरण किया। यतिराज ने स्नेहपूर्वक शिशुओं की भूत-पिशाचादि से रक्षा के लिए उन्हें धारण करने को स्वर्ण का पंचास्त्र (पांचजन्य, सुदर्शन, कौमोदकी, नन्दक तथा शार्ङ्ग) बनवाकर प्रदान किया। इस प्रकार रक्षित होकर दोनों शिशु क्रमश: वर्धित होने लगे। छह मास बीत जाने पर उनका नामकरण हुआ। यतिराज ने बड़े का नाम पराशर तथा छोटे का नाम व्यास रखा। उसी समय गोविन्द के छोटे भाई बालगोविन्द के पुत्र के नामकरण का भी समय हो गया था। श्री रामानुज ने उसे परांकुशपूर्ण का नाम दिया। इस प्रकार यतिराज ने अपनी तृतीय प्रतिज्ञा पूरी की।

पराशर ने बचपन से ही अपनी अतुल्य प्रतिभा का परिचय दिया था। जब वे चार वर्ष के थे, उसी समय सर्वज्ञ भट्ट नाम के एक दिग्विजयी पण्डित अपने अनेक शिष्यों के साथ नगाड़े बजाकर अपनी कीर्ति की घोषणा करते हुए बड़े धूमधाम के साथ राजपथ पर चले जा रहे थे। अन्य बालकों के साथ परशर भी उस समय सड़क पर खेलकूद में मग्न थे। उन्होंने मुनादी करनेवाले के मुख से सुना, "विश्वविख्यात सर्वज्ञ भट्ट अपने शिष्यों के साथ भ्रमण कर रहे हैं। जो कोई भी उनके साथ तर्क करना या उनका शिष्य बनना चाहे, वह अविलम्ब उनके चरणों में उपस्थित हो।" यह सुनकर वह बालक एक मुट्ठी भर धूल लेकर सर्वज्ञ के सम्मुख उपस्थित हुआ और पूछने लगा, "बताइए तो, मेरे हाथ में धूल के कितने कण हैं? जब आप सर्वज्ञ हैं, तो आपको कुछ भी अज्ञात न होगा।" पण्डितजी अचानक ही उस धूल-धुसरित बालक का यह प्रश्न सुनकर भौचक्के रह गये और अपनी सर्वज्ञता के अभिमान को धिक्कारते हुए उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमते हुए बोले, "वत्स, तुम्हीं मेरे गुरु हो। तुम्हारा प्रश्न सुनकर मुझे ज्ञानलाभ हुआ।"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सीता और सारदा – अभिन्न शक्तियाँ

स्वामी सुनिर्मलानन्द

सम्पादक – प्रबुद्ध भारत, मायावती

भगवान श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी और श्रीरामचन्द्र लीलासंगिनी श्री सीतादेवी के चरित्रों की तुलना करने पर उनमें हमे कई सादृश्य दीख पड़ते हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे ही सादृश्यों पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

जन्म-वृत्तान्त

श्री सीताजी एवं श्री सारदादेवी, दोनों के जन्म-वृत्तान्त ही दिव्य रहस्यों से परिपूर्ण हैं। राजा जनक मिथिला में पूजार्थ जब खेत में हल चला रहे थे, तब उन्होंने हल चलाने से बनी हुई नाली में एक दिव्य शिशु को देखा। संस्कृत में ऐसी नाली को सीता कहते हैं, अत: उसमें प्राप्त हुई बच्ची का नाम सीता हुआ। माँ सारदा देवी की जननी श्याम सुन्दरी देवी भी एक बार अपने पित्रालय के गाँव गयी हुई थी। एक दिन वे एक बिल्ववृक्ष के नीचे बैठी थी कि सहसा पेड़ पर से एक परम सुन्दरी दिव्य बालिका नीचे उतरी और पीछे से अपने नन्हें हाथों से श्यामा सुन्दरी को गले लगाते हुए, मधुर स्वर में बोली – "मैं तुम्हारे घर आऊँगी, माँ।" एकान्त में भगवच्चिन्ता मे मग्न बैठी हुयी श्यामा सुन्दरी अचानक इस रोमांचक घटना से चकित-सी हो गयी। लेकिन जब उसी दैवी शक्ति के प्रभाव से अपने उदर में कुछ प्रवेश करने जैसा अनुभव हुआ, तो श्यामा सुन्दरी बेहोश होकर गिर पड़ीं। उधर उनके पति श्री रामचन्द्र मुखर्जी कलकत्ता गये हुये थे। उनको सपने में एक दैवी बालिका ने मधुर स्वर में कहा – 'मैं तुम्हारे घर आऊँगी'। इस घटनाचक्र के नौ महीने बाद श्री सारदा देवी का जन्म हुआ।

दैवी शक्ति का प्रकाश

बाल्यकाल में ही श्री सीता और श्री सारदा – दोनों ही माताओ की दिव्यता का स्पष्ट परिचय उनके सगे-सम्बन्धियों को मिल गया था। तमिल भाषा में रचित कम्बन के रामायण मे एक अद्भुत घटना का उल्लेख है। श्रीरामचन्द्र ने जिस शिव-धनुष को तोड़कर सीताजी का पाणि-ग्रहण किया था, वह धनुष एक चलायमान पीठ पर था। यह सर्वजन विदित है कि राम को छोड़कर और कोई भी इस धनुष को उठा नहीं पाया था। गेद खेलती हुई सीताजी की गेद उस पीठ के नीचे घुस जाने पर उन्होने एक ही हाथ से उस पीठ को दूर ढकेलकर गेद को निकाल लिया और इस प्रकार सभी सहेलियों को हर्षोल्लास से विस्मित और अन्य सभी लोगो को आश्चर्यचकित कर दिया था। इसी प्रकार माँ सारदा देवी के जीवन की भी एक घटना हम देखते हैं। उनके गाँव जयरामवाटी में दुर्गापूजा चल रही थी। तीन वर्ष की बालिका सारदा प्रतिमा के सम्मुख गम्भीर ध्यान में निमग्न थी। गाँव के सर्वजन-सम्मानित एक भक्त माँ दुर्गा को प्रणाम करने के लिये जब वहाँ गये तो उन्हें ध्यानस्थ सारदा और मूर्तिमान दुर्गा में कोई अन्तर ही नहीं दिखाई दिया। बारम्बार आँखें पोंछकर देखने पर भी उन्हें दोनों के बीच कोई भेद नही प्रतीत हुआ। वे भक्त महाशय इस पर भयभीत होकर भाग निकले थे।

विवाह-लीला

श्री सीताजी और श्री सारदा देवी – दोनों के विवाह कम आयु में ही हो गये थे। दोनों ने ही विवाह से पूर्व ही अपने अपने भावी पतियों को पहचान लिया था। जब प्रभु रामचन्द्र पुष्पवाटिका में फूल चुनने गये थे, उसी समय अपनी सहेलियों के साथ मन्दिर-की ओर जा रहीं सीताजी ने श्री रामचन्द्रजी का दर्शन किया। तभी से उनके मन मे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि श्रीरामचन्द्र ही उनके अपने पतिदेव होनेवाले हैं।

इधर तीन वर्ष की बालिका सारदा अपनी माँ श्यामा सुन्दरी के साथ अपने ननिहाल सिहोड़ गयी हुयी थी। दैवयोग से किसी समारोह में भाग लेने वहाँ श्रीरामकृष्ण भी आये हुए थे। श्रीरामकृष्ण के सम्बन्धी भी उसी सिहोड़ ग्राम के निवासी थे। उत्सव के दौरान हास्य-विनोद में किसी महिला ने सारदा से पूछा – "इन लोगो में से तुम किसके साथ शादी करोगी?" सारदा ने तुरन्त अपने नन्हें नन्हें हाथो को उठाकर कुछ दूर बैठे हुए श्रीरामकृष्ण की ओर संकेत किया।

सीताजी की खोज में तो स्वयं श्रीरामचन्द्र ही मिथिला पधारे और माँ सारदा की खोज मे श्रीरामकृष्ण ने यह कहते

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

श्री रंगनाथ स्वामी का प्रसाद ग्रहण करने से ही दोनों भाइयों का जन्म हुआ था, अत: सभी लोग पराशर तथा व्यास को उन्ही का पुत्र मानते थे। उपनयन के पश्चात् उपनिषद् का अध्ययन करते समय जब गोविन्द ने उन्हें भगवान के **अणोरणीयान् महतो महीयान्** – ये दो गुण बताये, तो इस पर बालक पराशर ने पूछा, "एक साथ ही दोनो विपरीत गुणों का होना कैसे सम्भव है?" गोविन्द इस पर विस्मित रह गये, पर सहसा कोई उत्तर नहीं दे सके। पराशर का उपनयन हो जाने के कुछ दिन बाद ही यतिराज की इच्छानुसार महापूर्ण के किसी सम्बन्धी की कन्या के साथ उनका विवाह हुआ।

❖ (क्रमश:) ❖

हुए आदमी भेज दिया – "इधर-उधर ढूँढ़ना व्यर्थ है, जयरामवाटी में रामचन्द्र मुखर्जी के घर जाकर देखो, वहाँ मेरे लिये कन्या चिह्नित कर रखी हुई है।" इसके बाद चौबीस वर्ष के युवक से पाँच वर्ष की कन्या का विवाह सम्पन्न हुआ था।

आभूषणों का दान

श्री सीताजी ने अपने ससुराल के सुखमय जीवन का बहुत कम समय तक ही आस्वादन किया था, क्योंकि सिंहासन-आरोहण के दिन ही श्री रामचन्द्रजी को बनवास जाने की आज्ञा प्राप्त हुई थी। श्री सीताजी भी आनन्दपूर्वक उनके साथ जाने को प्रस्तुत हुई और काषाय वस्त्र धारण कर लिया। परन्तु राज-परिवार के सभी लोगों ने उन्हें आभूषण जरूर पहनाये। जंगल में अत्रि मुनि की धर्मपत्नी देवी अनसूयाजी ने भी अपने कुछ आभूषण माँ सीताजी को प्रदान किये। जब क्रूर रावण के हाथो में श्री सीताजी विवश होकर पड़ गयीं, तब श्री रामचन्द्रजी को सूचना मिल जाय, इस आशा से उन्होंने अपनी आंचल में आभूषण बाँधकर नीचे बन्दरों के पास गिरा दिये थे।

इधर श्री सारदा देवी के विवाह के तत्काल बाद उनकी सास गाँव के एक धनी परिवार से उधार लाये हुए आभूषणों को लौटाने की चिन्ता मे पड़ीं। उनके पुत्र श्रीरामकृष्ण को माँ की इस चिन्ता के बारे में जानकारी मिलने पर उन्होंने सोयी हुई बालवधू के शरीर से समस्त आभूषण उतारकर माता के हाथों मे सौंप दिये। सुबह नींद से उठकर आभूषणों को न देख सारदा कुछ खिन्न-सी हुईं। तब सास के सान्त्वना देने पर बालिका शान्त हो गयी, लेकिन जयरामवाटी से सारदा के चाचाजी आये और घटना को जानकर बालिका सारदा को कन्धे पर चढ़ाकर उसी दिन गाँव वापस चले गये।

विश्व मातृत्व की अभिव्यक्ति

श्री सीताजी श्री रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी और मिथिला तथा अयोध्या के जन-साधारण की वन्दिता थीं। परन्तु जब उन्हें ऐसी चिन्ता हुई कि मायामृग के पीछे गये श्री रामचन्द्रजी असहाय होकर प्राण खो बैठे हैं और जब रावण ने उनका अपहरण कर लिया तब से वे विश्वविधात्री बन गयीं। तभी से समस्त प्राणी पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, 'सीता, सीता' करने लगे। दुष्ट-नाश का समय आ गया था। सीताजी तो राम-गतप्राणा बन गयीं और हर साँस के साथ राम-नाम जपने लगीं।

माँ सारदा श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी थीं। वे चुपचाप अपने काम-काज करती थीं और केवल कुछ गाँव के लोग ही उनके दिव्य स्वरूप को जानते थे। श्रीरामकृष्ण ने उनकी षोडशी देवी के रूप में पूजा करके उनमें अन्तर्निहित भगवती शक्ति का जागरण किया था, परन्तु लज्जापटावृता माँ सारदा अपने पतिदेव की महासमाधि के बाद ही विश्व के सम्मुख अभिव्यक्त हुईं। श्रीरामकृष्ण देव का तिरोभाव हो जाने के बाद उन्होंने स्वयं ही उन्हें बारम्बार दर्शन देकर कहा कि वे बस एक कमरे से दूसरे कमरे में ही तो गये हैं। उसी समय से उन्हें शिक्षा-दीक्षा, शिष्य-सन्तान-सेवा, लोकसंग्रह आदि विविध कार्यों में व्यस्त रहना पड़ा। परन्तु माँ श्री सारदा देवी तो आजीवन रामकृष्ण-गतप्राणा रहीं। वे अपनी हर साँस के साथ रामकृष्ण-नाम जपती रहीं।

वनवास का कष्ट

देवी सीताजी और देवी सारदा – दोनों को अपने जीवन के तेरह साल वनवास के अपरिमित कष्ट भोगने पड़े। श्री सीताजी को विशाल राजगृह त्यागकर एक वन की कुटिया में तेरह साल बिताने पड़े। श्री सारदादेवी को दक्षिणेश्वर में स्थित जिस नौबतखाने में तेरह साल रहना पड़ा था, वह तो मनुष्यों के रहने के योग्य ही नहीं प्रतीत होता। दोनों देवियों को जंगल-मार्ग से काफी मार्ग तय करना पड़ा। दोनों ने दुष्ट व्यक्तियों – सीताजी ने राक्षसी त्रिजटा को और सारदादेवी ने डाकू दम्पति का हृदय-परिवर्तन करके उन्हें अपना बना लिया। त्रिजटा और डाकू दम्पति ने दोनों देवियों की काफी सहायता की।

तेरह साल के वनवास के बाद एक वर्ष का लंका-निवास कोमलहृदया श्री सीताजी के लिए बड़ा कठिन सिद्ध हुआ। वहाँ सर्वदा राक्षसियाँ सीताजी को घेरे रहतीं और उन्हें खा जाने की धमकी भी देती थीं। माँ सारदा द्वारा नौबतखाने में तेरह साल बिताने के बाद के जीवन में उठाया गया कष्ट कठोरतम हृदय को भी विचलित कर देगा। तब माँ के घर में पागल थे, रोगी थे, द्वेषी थे, दिन भर झगड़ा करनेवाले थे और उनके अपने भ्रातागण थे, जो हमेशा उनसे पैसे ऐंठने की सोचते थे। इन लोगों के साथ रहते हुए मन की शान्ति को बनाये रखना अति उच्च आध्यात्मिक अवस्था का द्योतक है।

तिरस्कार की कठिन परीक्षा

श्री सीताजी और माँ सारदा देवी – दोनों ही अपने जीवन-काल में अत्यन्त सम्मानित हुई थीं, पर दोनों को ही अपमान तथा कष्ट भी झेलने पड़े थे। रावण-निधन के पश्चात् जब सीताजी मुक्त हुईं और सोचा कि चलो अब तो आँसुओं को विराम मिलेगा, तभी श्री रामचन्द्रजी बोल उठे – "मैंने तो अपना कर्तव्य निभाया है। अब तुम मुक्त हो। जहाँ इच्छा जा सकती हो।" विस्मय से चित्रलिखी-सी स्थिर सीताजी को उन्होंने और भी कहा – "तुमने शत्रुगृह में निवास किया है, अतः तुम्हारी अग्निपरीक्षा होनी चाहिए।" पवित्रता-स्वरूपिणी श्री सीताजी इस परीक्षा में भी खरी उतरीं। इसके बाद फिर जब किसी अशिक्षित नागरिक ने कुछ टीका-टिप्पणी की, तो श्री रामचन्द्र ने एक बार पुनः सीताजी का परित्याग कर दिया। लक्ष्मणजी ने गर्भवती सीताजी को जंगल में मुनि-दर्शन कराने के बहाने ले जाकर वहीं छोड़ दिया।

माँ सारदा को भी एक बार अग्निपरीक्षा जैसा ही अपमान सहना पड़ा था। उस समय वे अपनी माताजी के साथ सुदूर गाँव से दो दिन पैदल चलकर जब दक्षिणेश्वर पहुँची, तो श्रीरामकृष्ण के भतीजे हृदय ने श्यामा सुन्दरी को खरी-खोटी सुनाते हुए दोनों को तत्काल गाँव लौट जाने को कहा। इस प्रसंग में श्रीरामकृष्ण ने कुछ कहना उचित नही समझा और माँ को उल्टे पाँव गाँव लौट जाना पड़ा। इसके बाद जब वे पुन: आयी, तो अशुभ मुहूर्त में यात्रा शुरू करने के कारण उन्हे एक रात विश्राम का मौका देकर वापस भेज दिया गया था।

दुष्ट-साम्राज्य-दमन

हनुमानजी जब श्री सीताजी का दर्शन पाकर खुशी से श्री रामचन्द्र को सूचित करने आए, तो लंका को जलाकर आये। जैसे कवि ने कहा है – **य: शोकवह्निं जनकात्मजाया:** – हनुमानजी ने सीताजी की शोक की अग्नि से लंका को जलाया। इधर भारत में अंग्रेजो के अत्याचारो की कहानियाँ जब सुदूरवर्ती जयरामवाटी ग्राम तक जाती, तो सुनकर माँ सारदा रो उठती। स्वामी विवेकानन्द ने उनकी इस दु:खाग्नि से ही उस अत्याचारी शासन का नाश किया। हम जानते है कि स्वामीजी के विचारों से प्रेरित होकर अगणित नेताओ ने देश के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर किया। स्वामीजी स्पष्ट कहते है कि माँ की कृपा से ही उनके द्वारा यह सब सम्भव हुआ था। हनुमानजी ने सागर लाँघने के पूर्व जननी सीता का स्मरण किया था और स्वामी विवेकानन्द ने भी समुद्र पार जाने के पूर्व माँ सारदा देवी से आशीर्वाद की याचना की थी। वानर श्री सीताजी के बारे मे बहुत अल्प जानते थे – केवल इतना ही कि वे श्रीरामचन्द्र की पत्नी है, पर लंका से लौटकर समुद्र-तट पर प्रतीक्षा कर रहे वानरो को हनुमानजी ने कहा कि सीताजी व्यक्तित्व में अरुन्धती से बढ़कर है। जगत् की रक्षा सीताजी ही करती हैं –

शीलं आसाद्य सीताया: मम च प्रवणं मन: ।
तपसा धारयेत् लोकान् क्रुद्धो वा निर्दहेदपि ।।
(रामायण, सुन्दरकाण्ड - ५९/२-३)

– यदि सीताजी को क्रोध हुआ, तो सिर्फ अपनी पवित्र अँगुली उठाकर वे जो कुछ कर सकती है, उसे अग्नि भी नही कर सकता।

स्वामी विवेकानन्द ने भी अमेरिका से अपने गुरुभाइयो को लिखा था – "श्री माँ के जीवन का महत्त्व तुम लोग अभी तक समझ नही सके। माँ का आदेश हुआ, तो उनके भूत-प्रेत असाध्य को भी साध्य कर देते है। रामकृष्ण के बारे मे तो भैया, तुम कह सकते हो कि वे ईश्वरावतार थे, लेकिन माँ के चरणो मे जिसकी भक्ति नही, उसे धिक्कार है!"

जीवनीकारों से भेंट

जब लक्ष्मणजी गर्भवती श्री सीताजी को वन में छोड़कर चले गये, तो सीताजी धीरे धीरे चलकर वाल्मीकिजी के आश्रम में जा पहुँचीं। मुनि वाल्मीकिजी ने सीताजी की देख-रेख की। इन्ही वाल्मीकिजी ने बाद में रामायण की रचना की थी।

बाद के दिनों में माँ सारदा के प्रिय साधु-सन्तान स्वामी सारदानन्दजी ने उनके लिए एक मकान गाँव में और दूसरा कोलकाता में बनवाया। उनका निमंत्रण पाकर माँ प्राय: ही वहाँ आकर निवास करतीं। माँ की सेवा करते हुए ही स्वामी सारदानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण-चरित्र की रचना की थी।

दोनों एक हैं

दक्षिण के रामेश्वरम् मे श्रीराम और सीताजी ने एक शिवलिंग की पूजा की थी। जब माँ सारदा देवी वहाँ गयीं, तो शिवलिंग का दर्शन करते ही वे सहसा बोल उठी, "जैसा रख गयी थी, वैसा ही है।" साथ की महिलाओं ने इसे सुनकर पूछा, "आप क्या बोल रही थी, क्या बोल रही थीं?" माँ ने उन्हें टालने का प्रयत्न किया, पर आखिरकार उन्होंने फिर कहा, "शिवलिंग को मैं जैसा रखकर गयी थी, अब भी वह वैसा ही है।"

जो श्रीराम थे, जो श्रीकृष्ण थे, वे ही इस बार श्रीरामकृष्ण के रूप मे आये थे और जो श्री सीताजी थीं, जो श्री राधाजी थी, वे ही इस बार माँ सारदादेवी के रूप में अवतीर्ण हुई थीं।

❖❖❖

आत्मसंयम से प्रसन्नता

भैरवदत्त उपाध्याय

आत्मसंयम मानव-जीवन का बीजमन्त्र है। इसके बिना मनुष्य विकास के किसी भी बिन्दु का स्पर्श नहीं कर सकता। आत्मसंयम, आत्मनिग्रह, आत्मानुशासन और आत्मनियंत्रण समान भावों के अभिव्यंजक शब्द हैं। स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता भी आत्मसंयम की अभिव्यंजना करते हैं। इन सभी शब्दों से हमारी इस मान्यता की पुष्टि होती है कि हम अपने अनियंत्रित एवं स्वच्छन्द आचार-विचार आदि पर ऐसा नियंत्रण चाहते हैं, जो अपने द्वारा अपने लिए और अपने ऊपर ही स्थापित हो। अपने द्वारा अपनी वृत्तियों को संयमित करना, अपने आचार-विचार तथा वाग्व्यवहार को संयमित करना और अपने आहार-विहार को नियमित करना मनुष्य-मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। हम पशु से भिन्न हैं, क्योंकि हमें परमात्मा ने विवेक और अपने आप को नियंत्रित करने की क्षमता दी है, जिसके माध्यम से हम अपनी पशुता, उद्धतता तथा उद्दण्डता को नियंत्रित कर सकते हैं। संस्कारहीन और उद्धत मनुष्य पशु है, जिसकी पाशविक वृत्तियाँ उभरकर सामने आना चाहती हैं। जब जाने-अनजाने में स्वार्थ तथा अहंकार का प्रकटीकरण होने लगता है, उद्दण्ड पाशविकता नग्न-नृत्य करने लगती है; तब आत्मसंयम ही ऐसा अंकुश है, जो उन सबको मर्यादा में आबद्ध करता है। यह जीवन की निधि, अमरता का मंत्र और सफलता की कुंजी है।

समाज द्वारा स्थापित नियमों का स्वत:स्फूर्त पालन आत्मसंयम कहलाता है। यह आन्तरिक अनुशासन है, जिसे बाहर से थोपा नहीं जाता। स्वत: अनुशासित व्यक्ति किन्हीं बाह्य निर्देशों की अपेक्षा नहीं रखता। वह तो इतना अभ्यस्त होता है कि अनजाने में भी उससे स्खलन नहीं होता। आत्मसंयम वह योग है, जिसकी अग्नि में इन्द्रियों तथा प्राणों के समस्त कार्य जल जाते हैं। आत्मसंयम के बिना योग की प्राप्ति असम्भव है। आत्मसंयमी व्यक्ति अपने सुखद तथा दुखद मनोभावों को नियंत्रित करता है। वह सुख पाकर न तो गर्व करता है और न दुख पाकर विचलित ही होता है। उसके लिये सोना मिट्टी के ढेले के समान और परदारा मातृतुल्य होती है। उसे मान की भूख नहीं होती। अपने मान के लिये वह कपटतापूर्ण आयोजन नहीं करता। वह दूसरों को सम्मान देता है। ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, वैमनस्य आदि दुर्भावों पर उसका नियंत्रण होता है। वह इनकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति नहीं होने देता। वह अपने आप में सन्तुष्ट रहता है। स्पृहा और आसक्ति का दास नहीं होता। वह आत्मवश होने के कारण सदैव प्रसन्नचित्त रहता है। वह स्थितप्रज्ञ होता है। उसके निर्णय अटल और निष्पक्ष होते हैं। ऐसा मनुष्य सम्पूर्ण समाज के लिये श्रेष्ठ प्रतिमान स्थापित कर प्रेरणादायक बन जाता है।

हमारा शरीर इन्द्रिय रूपी दस घोड़ोंवाला रथ है। इन घोड़ों का स्वभाव है अपनी अपनी रुचि की दिशाओं की ओर रथ को खींचना। सभी की दिशाएँ भिन्न हैं। यदि इनकी मनमानी चली, तो रथ चरमराकर टूट जायेगा। मनुष्य दिशाहीन और लक्ष्यहीन होकर पतन के गर्त में डूब जायेगा, जहाँ से कोई निकालनेवाला नहीं होगा, क्योंकि व्यक्ति का उद्धार करनेवाला उसके स्वयं के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। इन इन्द्रिय रूपी घोड़ों के खेल निराले हैं। इनकी सहज प्रवृत्ति विषय-वासनाओं रूपी चरागाह की ओर होती है। इनका रुकना कठिन है। यदि उन्हें यथेच्छा राह मिल गयी, तो उनके हौसले बेहद बढ़ जाते हैं। इस कारण इन इन्द्रियों को संयमित करना आवश्यक है। जिसने इन पर संयम स्थापित कर लिया है, उसे फिर ये इन्द्रियाँ नचा नहीं सकतीं। इनकी लगाम मन है, जिसे विवेक के हाथ थमा दो, फिर जीवन का आनन्द लुटो। वाणी और विचार का संयम भी आत्मसंयम है। वाणी-संयम का आरम्भिक बिन्दु है – विचार-संयम। विचार-संयम का अर्थ है – मन को निर्विचार बना देना, मन को अपने भीतर समेट लेना और कुछ भी न सोचना – **आत्मसंयम मन:कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्** (गीता, २.२५)। गलत बात और असत्य आचरण का मूल है – गलत विचार। अत: विचार-संयम नितान्त आवश्यक है।

जीवन जीने के लिए जितना भोजन जरूरी है, पथ्य एवं सात्विकता का ध्यान रखते हुए उतना ही खाना, समय पर सोना-उठना तथा अन्य क्रियाओं को नियमित करना आत्मसंयम है। गलत आदत और कुसंगति से बचना भी आत्मसंयम, आत्मवशता है, स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता है। इन्द्रियाँ जब व्यक्ति को अपना दास बना लेती हैं, तब वे हँसती हैं और व्यक्ति रोता है; जब व्यक्ति उन पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है, तब व्यक्ति हँसता है, प्रसन्न होता है। यदि हम आजीवन प्रसन्नता के आकांक्षी हैं, तो आत्मसंयम के अतिरिक्त प्रसन्नता प्राप्त करने का दूसरा कोई विकल्प नहीं है। ❑❑❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— १२१ —

तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करता हूँ –

(१) 'निरोध' शब्द का अर्थ है नि:शेष में रोध करना अर्थात् मन को बाहर न जाने देना। चित्त को बाह्य विषयों में लिप्त न होने देने को ही चित्तनिरोध कहते हैं। चित्त के अन्तर्मुख रहने का ही नाम निरुद्ध अवस्था है।

(२) तुमने ठीक लिखा है कि "चित्त की पूर्ण वृत्तिहीन अवस्था को ही निरोध कहते हैं; क्योंकि चित्त के वृत्तिहीन होते ही द्रष्टा आत्मा स्वरूप में अवस्थान करती है।"

(३) 'एकाग्रता' का अर्थ है – जैसे सुई में धागा पिरोने के समय धागे के अग्रभाग को ऐंठकर सूक्ष्म करना पड़ता है, उसी प्रकार मन के अग्रभाग को एक करने का नाम 'एकाग्रता' है। ठाकुर कहते थे – "सूत में थोड़ा सा भी रोआँ निकला रहने से वह सूई के भीतर नही घुसता।" वेसे ही मन में थोड़ी-सी भी चंचलता रहे, तो ध्यानादि होने की सम्भावना नही है। मन को निश्चल करने का नाम ही एकाग्रता है।

(४) 'चित्तवृत्तिनिरोध' मन की एकाग्रता से ही होता है। मन को एकाग्र करने के बाद ही वृत्ति का निरोध करना सम्भव है। निरोध की पूर्वावस्था ही एकाग्रता है।

(५) 'अभ्यास और वैराग्य' के द्वारा वृत्तिनिरोध होता है। अभ्यास का अर्थ है – चित्त में एक ही भाव बारम्बार स्थापित करना। चित्त स्थिर नही रह पाता, एक भाव से दूसरे भाव का अवलम्बन करता रहता है। उसे अन्य भाव में न जाने देकर बारम्बार पूर्वभाव मे ही लौटाकर स्थापित करने को अभ्यास कहते है। इस सम्बन्ध में गीता का कथन है –

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। ६/२६

– अर्थात् ध्यान के समय मन जब चंचल होकर अन्य विषयों मे गमन करता है, स्थिर नही रहता – तब मन को उसी विषय मे पुन: पुन: लौटा लाना और आत्मा में स्थिर रखने का नाम ही अभ्यास है।

(६) तुमने लिखा है – "ध्यान-धारणा न करके केवल सदसत्-विचार, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा क्या किसी की वृत्तियाँ पूर्णरूपेण निरुद्ध हो सकती हैं?" ध्यान-धारणा का फल – पूर्ण वृत्तिनिरोध सदसत् विचार से ही होता है। तात्पर्य यह कि ध्यान-धारणा के द्वारा भी वृत्तिनिरोध होता है और सदसत् विचार के द्वारा भी। विचार करते करते अन्त मे बुद्धि निरुद्ध अवस्था से होकर लक्ष्य तक पहुँच जाती है तथा समाहित होकर सद्वस्तु (आत्मा) का साक्षात् करती है; और ध्यान-धारणा आदि का अभ्यास करते करते मन निरुद्ध होकर क्रमश: समाधि अवस्था को प्राप्त होता है – विकल्परहित होकर उन्हीं परमात्मा को प्राप्त करता है। सदसत्-विचार तत्त्वज्ञान का पथ है और ध्यान-धारणादि योगी का मार्ग है। पथ अलग अलग होने पर भी दोनों का गन्तव्य एक ही है। दोनों ही आत्मानुभूति करके समस्त दु:खों के पार चले जाते हैं। पर भक्त इतने श्रमसाध्य पथ पर नहीं जाता। वह प्रभु को मन-प्राण समर्पित कर शुद्ध अनन्य प्रेम के द्वारा ही उन्हें पाकर कृतकृत्य हो जाता है। यही उसके लिए सहज पथ है।

— १२२ —

तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे रहा हूँ –

(१) योगसूत्र में चित्तवृत्ति-निरोध को योग कहा है। गीता में **सिद्धावसिद्धौ** आदि **योग: कर्मसु कौशलम्** तथा और भी कई प्रकार के योगों की बात कही गयी है; परन्तु सभी चित्त की निरुद्ध अवस्था की ओर संकेत करके ही कही गयी हैं।

(२) अत: 'वृत्तिनिरोध को योग कहते हैं', 'समता को योग कहते है' – ये दोनों अभिन्न अवस्थाएँ हैं, पृथक् नहीं।

(३) वृत्ति के पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाने पर समता की प्राप्ति होती है, अन्यथा समतालाभ सम्भव नहीं।

(४) श्रीरामकृष्ण के पाँवों के नीचे की ओर चक्र, न तो मैने स्वयं देखा है न किसी से सुना है; अत: स्वप्न में ऐसा देखना सत्य है या मिथ्या – कह नही सकता, तथापि उन्हें स्वप्न में देखना नि:सन्देह परम कल्याणप्रद है।

(५) **योग: कर्मसु कौशलम्** का अर्थ है – कर्म में कुशलता को योग कहते है। तात्पर्य यह कि जो कर्म करने पर साधारणतया बन्धन का कारण होता है, वही कर्म उपाय के द्वारा, चित्तशुद्धि का कारण होकर बन्धनमोचन करने पर योग कहलाता है। उदाहरणार्थ – जो कर्म आसक्तिपूर्वक करने पर बन्धन करता है, वही कर्म यदि आसक्तिरहित होकर किया जाय, तो मोक्ष का कारण होता है, बन्धन का कारण नही हो सकता। यह अनासक्ति-भाव योग के द्वारा ही होता है, अत: इस कौशल को ही योग कहा गया है।

— १२३ —

तुम्हारा साधु-संकल्प जानकर आनन्दित हुआ। मनुष्य से गलती न होना अत्यन्त विरल तथा असम्भव है, परन्तु गलती को मानकर उससे विरत होने मे ही मनुष्यत्व प्रगट होता है। बीती बातो को बिसार कर, वर्तमान तथा भविष्य के लिए सावधान हो जाने पर बहुत कल्याण होता है। शरीर और मन

को स्वस्थ, सबल और पवित्र रखने का प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इसके बिना किसी भी शुभ-कर्म को करने का अधिकारी कोई व्यक्ति नहीं हो सकता।

ध्यान के पूर्व ध्यान करने की योग्यता हासिल करनी पड़ती है। अचानक ही ध्यान कर पाना अत्यन्त कठिन है। सर्वप्रथम मन को विषय से खींचकर एक चिन्तन-विशेष में लगाना चाहिए – इसे **प्रत्याहार** कहते हैं। प्रत्याहार का अभ्यास हो जाने के बाद मन सुविधापूर्वक शरीर के किसी भी विशेष अंग में – यथा नासिकाग्र, भ्रूमध्य या हृदय में, किसी भी एक स्थान में रख पाने को **धारणा** कहते हैं। जब इस धारणा का अभ्यास हो जाता है, उसके बाद **ध्यान** करने का प्रयत्न करना चाहिए। एक वस्तु या भाव में तैलधारावत् अविच्छिन्न भाव से विचारप्रवाह को लगा पाने को ही **ध्यान** कहते हैं। तैलधारावत् से अभिप्राय यह है कि बीच में किसी भी प्रकार का व्यवधान न रह जाय। चिन्तन-स्रोत को निरन्तर ध्येय वस्तु की ओर प्रवाहित करना होगा। दीर्घकाल तक इसी प्रकार का अभ्यास करने पर मन की संयम-शक्ति बढ़ जाती है और ध्यान करने की क्षमता प्राप्त होती है।

सर्वप्रथम देवमूर्ति आदि किसी स्थूल वस्तु पर ही ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। प्रारम्भ में ही पूर्ण मूर्ति का ध्यान कर पाना सहज नहीं है, अत: देह के किसी विशेष अंग यथा मुख या चरणों पर ध्यान का प्रयास करना चाहिए। अभ्यास परिपक्व हो जाने पर सम्पूर्ण मूर्ति का ध्यान सहज हो जाता है। इसी प्रकार वह क्रमश: सूक्ष्म अरूप के ध्यान में लय हो जाएगा। इसी समय विशेष सावधानी बरतने की जरूरत है, क्योंकि ध्यान करने पर मन में लय, विक्षेप आदि विघ्न उपस्थित होते हैं। ऐसा न हो, इसके लिए खूब सावधान रहना पड़ता है।

तुमने लिखा है, "विचार के द्वारा किसी विषय की मीमांसा करते समय भी मन एकाग्र होता है"– यह ध्यान का ही अंग है। "प्रयास के द्वारा मैं खूब ध्यानमग्न हो सकूँगा"– नि:सन्देह यह तुम्हारा उत्तम विश्वास है। गीता के छठें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को उपदेश दिया है – **शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरम् आसनमात्मन:** से लेकर **शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थां अधिगच्छति** तक ध्यान के बारे में ही विशेष संकेत देखोगे।

नित्य सुविधानुसार **गीतापाठ** करने से चित्तशुद्धि होती है। प्रभु के श्रीचरणों में मन रखकर उनकी ओर अग्रसर होओ, तो फिर संसार का भय न रह जाएगा। वे ही सर्वदा रक्षा करते हुए अपनी ओर खींच लेंगे। यदि भीतर एक भाव और बाहर दूसरा भाव न रहे और मन-मुख एक हो तो अन्तर्यामी प्रभु अन्तर देखकर कल्याण कर देते हैं, इसमें किंश्चित् भी सन्देह नहीं। सभी शास्त्र तथा महात्मागण एकमत से यही उपदेश देते हैं।

बुरे संग से सर्वथा दूर रहना और सतत प्रार्थनाशील रहकर उन्हीं के चिन्तन में मन लगाने का प्रयत्न करना। अधिक क्या कहूँ? ऐसा करने पर प्रभु ही हृदय में रहकर सब समझा देंगे।

— १२४ —

तुमने मेरे जीवन की पुरानी बातें जानने की इच्छा व्यक्त की है। इस पर चर्चा करने की प्रवृत्ति तो नहीं होती, तथापि तुमने जो दो-एक बातें पूछी हैं, उन्हें संक्षेप में बता रहा हूँ –

श्रीरामकृष्ण का प्रथम दर्शन मैने बागबाजार में श्री दीनानाथ वसु के मकान पर किया था। वह काफी पुरानी बात है, तब वे प्राय: समाधिस्थ ही रहा करते थे। तब तक उनका केशवचन्द्र सेन से परिचय हो चुका था। दीनानाथ वसु के भ्राता कालीनाथ वसु केशवबाबू के अनुयाई थे। वे ठाकुर को देखकर मुग्ध हुए और उन्होंने अपने बड़े भाई से अनुरोध कर ठाकुर को अपने घर आमंत्रित किया था। तब हम लोग तेरह-चौदह साल के बालक थे। परमहंस आएँगे, यह बात मुहल्ले में फैल जाने पर हम लोग उनका दर्शन करने वहाँ एकत्र हुए। हमने देखा की दो व्यक्ति एक भाड़े की गाड़ी से द्वार तक पहुँचे, फिर सभी 'परमहंस आ गये', 'परमहंस आ गये' कहते हुए उधर आकृष्ट हुए। पहले एक अच्छे हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति (हृदयराम) गाड़ी से उतरे, उनके मस्तक पर सिन्दूर की बिन्दी थी, दाहिनी बाँह में सोने का ताबीज था और देखने में खूब बलशाली तथा कार्य-कुशल प्रतीत होते थे। स्वयं उतरने के बाद वे एक अन्य व्यक्ति को गाड़ी से उतारने लगे। ये दूसरे व्यक्ति अत्यन्त दुबले थे, देह पर कुर्ता था, धोती कमर में बँधी थी, उनका एक पैर गाड़ी के पाँवदान पर तथा दूसरा गाड़ी के भीतर और वे बिल्कुल बाह्यज्ञान-शून्य थे। ऐसा लग रहा था मानो किसी बड़े शराबी को पकड़कर उतार रहे हों। जब वे उतर चुके, तो देखा कि उनके मुखमण्डल पर एक बड़ी अद्भुत ज्योति विराज रही थी! ऐसा लगा कि शास्त्र में मैंने जो शुकदेव की कथा पढ़ी है, क्या ये वही हैं? किसी तरह उन्हें सहारा देकर ऊपर ले जाया गया; फिर थोड़ी सहजावस्था लौटने पर उन्होंने दीवाल पर एक बृहत् कालीमूर्ति देखकर प्रणाम किया और एक मोहक भजन गाकर वहाँ उपस्थित सभी के मन में एक अपूर्व भक्तिभाव एवं समन्वय का स्रोत प्रवाहित कर दिया। भजन काली और कृष्ण की अभिन्नता का सूचक था – "हे माँ काली, यशोदा तुम्हें नीलमणि कहकर नचाया करती थी; हे करालवदनी, तूने अपना वह रूप कहाँ छिपा लिया है।" सुनकर लोगों के मन में जिस अपूर्व भाव का संचार हुआ था, वह वर्णनातीत है। इसके बाद काफी परमार्थ-चर्चा हुई।

वे और भी एक बार दीनानाथ के मकान पर आए थे। फिर दो-तीन साल के बाद मैंने दक्षिणेश्वर में उनके कमरे में ही उनका दर्शन किया। आज बस इतना ही।

माँ सारदा देवी की स्मृतियाँ

स्वामी वीरेश्वरानन्द

१९१६ ई. की गर्मियों के मध्यकाल में मैं पहली बार बेलूड़ मठ आया। दो महीने मठ में बिताने के बाद मैं श्री माँ का दर्शन करने जयरामबाटी गया। जहाँ तक स्मरण आता है, वह जून का महीना था। एक सज्जन जयरामबाटी जा रहे थे। स्वामी प्रेमानन्दजी ने मेरा उनके साथ परिचय करा दिया। उन्होंने माताजी के नाम एक पत्र भी लिख दिया। हमने जयरामबाटी के लिए प्रस्थान किया। हावड़ा मैदान से मार्टिन रेल्वे में सवार होकर हम चाँपाडागा पहुँचे। हावड़ा से चाँपाडागा की दूरी मुझे ज्ञात नही, पर इतना याद है कि हम हावड़ा से अपराह्न में तीन या साढ़े तीन बजे चले थे और चाँपाडागा रात के साढ़े आठ बजे पहुँचे। मार्टिन गाड़ी ट्राम के समान ही, या बल्कि उससे भी धीमी गति से चला करती थी। उसी गाड़ी से और भी दो युवक[१] जा रहे थे; वे भी हमारे साथ ही चाँपाडागा मे उतर गये। वह रात हमने चाँपाडागा स्टेशन पर ही बितायी। स्टेशन के नाम पर वहाँ एक कमरा मात्र था और उसके भी आधे भाग पर छत न थी। अगले दिन हमने जयरामबाटी के रास्ते पर चलना आरम्भ किया। वे दो युवक जो हमारे साथ जा रहे थे, कुछ दूर जाने पर उनमें से एक बीमार पड़ गया। पता चला कि उसे पेचिश हो गयी है, अत: उसके मित्र ने उसके लिए एक बैलगाड़ी की व्यवस्था की। परन्तु उसकी बीमारी बढ़ती ही गयी। तब बाध्य होकर उन दो नवयुवको को कलकत्ते लौट जाना पड़ा। उन लोगो के कारण मार्ग मे हमें काफी देरी हुई। अस्तु, हमने फिर चलना शुरू किया। बड़ी गरमी थी। स्मरण नही आता कि दोपहर के भोजन या विश्राम के लिए हम लोग कही मार्ग में रुके थे या नहीं। द्वारकेश्वर नद तक पहुँचते सन्ध्या हो गयी थी। उस रात कामारपुकुर जाने का समय नहीं था। वह रात हमने द्वारकेश्वर के पाट में ही सोकर बिता दी। वहाँ मैंने अनेक गाड़ीवानों को बालू के ढूहो पर सोये हुए देखा। वे लोग गाड़ियो से बैलो को खोलकर सो रहे थे।

अगले दिन खूब सबेरे उठकर हम लोग कामारपुकुर की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचते दस बज गये। शिबूदा (ठाकुर के भतीजे) के साथ भेट हुई, उस समय वे बैठकखाने मे बैठे तम्बाकू पी रहे थे। उन्होने हम लोगों का परिचय लेकर जब समझ लिया कि हम जयरामबाटी जा रहे हैं, तो वे हमारे भोजन की व्यवस्था करने को घर के भीतर चले गये। हमने हालदारपुकुर में स्नान करने के बाद भोजन किया और थोड़ा विश्राम करने के बाद जयरामबाटी के लिए रवाना हुए। जब हम जयरामबाटी पहुँचे उस समय चार या साढ़े चार बजे थे। जिस माँ का नया मकान कहा जाता है, वह तब भी बना नही था। उससे जुड़ा हुआ जो बाहर का बैठका है, उस समय माँ के पास किसी पुरुष भक्त के आने पर वहीं ठहराया जाता था। माँ उन दिनों अपने पुराने मकान में ही रहती थीं। हमें वही ले जाया गया। घर के चबूतरे पर पहुँचकर मैंने देखा कि माँ बरामदे में बैठीं रात की रसोई के लिए सब्जियाँ काट रही हैं। उस समय वहाँ और कोई नही था। पुरुषों के आने की बात सुनकर महिलाएँ सम्भवत: वहाँ से खिसक गयी थीं। हमने माँ को प्रणाम किया। मेरे साथ जो सज्जन आये थे, उन्होंने माँ को स्वामी प्रेमानन्द के पत्र की बात कही। माँ ने एक ब्रह्मचारी को बुलाया और पत्र को पढ़कर सुनाने को कहा। पत्र पढ़ना हो जाने पर माँ ने कहा, "ठीक है, कल ही इनकी दीक्षा होगी।" हम नये मकान के बैठकखाने में लौट आये।

अगले दिन हम लोग दीक्षा के लिए तैयार रहे। माँ ने सुबह ठाकुर की पूजा समाप्त करने के बाद हमे एक एक कर दीक्षा के लिए अपने कमरे मे बुला भेजा। हमारी दीक्षा सम्पन्न हुई। माँ सामान्यत: ठाकुर की पूजा समाप्त करके ही दीक्षा दिया करती थी। परन्तु इस विषय में उनका कुछ बँधा हुआ नियम न था। किसी भी समय, किसी भी अवस्था में वे दीक्षा देती थी। एक बार विष्णुपुर स्टेशन पर एक कुली को उन्होने रेलवे प्लेटफार्म पर ही दीक्षा दे दी थी। उन्होंने जमीन पर तीन खर बिछाकर उसी पर उसे बैठने को कहा, मानो वे तीन खर तीन आसन हो। उसके बाद माँ ने उसे दीक्षा प्रदान किया। एक अन्य समय एक महिला उनसे मिलने आयी थीं। इन महिला को वे बचपन से ही जानती थीं, एक साथ ही खेल-कूद भी किया था। दोपहर के भोजन के बाद वे माँ के कमरे में उन्ही के पास लेटकर विश्राम कर रही थी। उसी अवस्था में माँ ने उन्हे दीक्षा दे दी। इससे यह समझा जा सकता है कि दीक्षा के विषय मे माँ कोई विशेष नियम नही मानती थीं।

एक बात और ध्यान देने की यह थी कि आध्यात्मिक उपदेश के लिए किसी के आने पर, माँ कभी उसे लौटाती न थी। जो भी आया, उसी को मिला। माँ कहती, "श्रीरामकृष्ण ने अच्छे अच्छे आधारो को चुन लिया और जितने भी उल्टे-

१ इन दोनो युवको ने परवर्ती काल मे रामकृष्ण संघ मे प्रवेश लिया था। बीमार होनेवाले थे स्वामी सत्प्रकाशानन्द, जो काफी दिनो तक अमेरिका के सेण्ट लुई नगर मे स्थित रामकृष्ण मिशन की शाखा के प्रमुख रहे। दूसरे का नाम हुआ था स्वामी विश्वनाथानन्द। ये एक अच्छे संगीतज्ञ थे और काफी काल तक मिशन के दिल्ली केन्द्र से जुड़े रहे।

सीधे थे, सब मेरे लिए छोड़ गये। इसीलिए मुझे इतना भोगना पड़ता है।" इतना कहकर भी दीक्षा के लिए किसी के आने पर माँ उसे निराश नहीं करती थीं। देश में उस समय सर्वत्र जोरदार आतंकवादी आन्दोलन चल रहा था। जो युवक इस आन्दोलन से जुड़े थे, वे बीच बीच में माँ को प्रणाम करने या उनसे दीक्षा लेने को आया करते थे। पुलिस उनके पीछे लगी रहती थी तथा उनकी गतिविधियों पर नजर रखती थी। पुलिस के गुप्तचर माँ के मकान पर भी निगाह रखते थे। परन्तु माँ को यह पसन्द न था। एक बार दो युवक आये। दोनों ही राजद्रोही थे। माँ ने उन्हें स्नान करने भेजा और उनके लौट आने पर उन्हे दीक्षा दी। उसके बाद उन्हें खिला-पिलाकर उन्हें अन्यत्र चले जाने को कहा। ऐसे युवकों को दीक्षा देने में भी माँ जरा भी भय नहीं करती थीं। माँ अपने जीवन के अन्तिम दिन तक दीक्षा दे गयी हैं।

जब वे उद्‌बोधन में अत्यन्त बीमार थीं, तभी एक पारसी युवक आये। उन्होंने कई दिनों तक मठ में अतिथि के रूप में निवास किया। परन्तु वे माँ का दर्शन करने तथा उनसे दीक्षा पाने आये थे। माँ तब इतनी बीमार थीं कि दर्शन आदि बिल्कुल ही बन्द था। ये युवक जाकर नीचे बैठे रहे, उन्हें दुमंजले पर नहीं जाने दिया गया। परन्तु माँ को न जाने कैसे पता चल गया कि ये युवक नीचे उनके दर्शन हेतु प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्होंने एक जन को उन्हें अपने पास बुला लाने को कहा। फिर माँ ने उन्हें दीक्षा देकर नीचे भेज दिया। स्वामी सारदानन्द को इस घटना की जानकारी मिलने पर उन्होंने कहा, "माँ को यदि एक पारसी शिष्य बनाने की इच्छा हुई है, तो फिर मैं भला क्या कह सकता हूँ? ये युवक मुम्बई-सिने-जगत् के विख्यात् अभिनेता एवं निर्माता सोहराब मोदी थे।

माँ में हमे और भी एक चीज देखने को मिली थी – बाहर से उनके चेहरे पर कोई ऐसा वैशिष्ट्य देखने में नहीं आता था, जिससे पता चलता कि ये ही श्री माँ हैं। उन्हें देखकर लगता कि ये कोई साधारण ग्राम्य महिला हैं। जब वे अन्य महिलाओं के साथ बैठी रहतीं, तो लगता ही नहीं था कि ये ही हमारी 'माँ' हैं। इसीलिए गिरीशबाबू कहा करते थे, "ये जो महिला गाँव की एक साधारण बहू के समान हमारे सामने खड़ी हैं, कौन कह सकता है कि ये ही जगत् की राज-राजेश्वरी हैं!" स्वामी सारदानन्द ने एक बार कहा था, "श्रीरामकृष्ण के भीतर का भाव थोड़ा-सा बाहर से पकड़ में आ जाता था, परन्तु माँ का कुछ भी समझ में नहीं आता। उनमें भाव को छिपाये रखने की अद्‌भुत क्षमता थी, बाहर उनकी बिल्कुल भी अभिव्यक्ति नहीं होती थी। माँ ने मानो एक मोटे वस्त्र के घूँघट से अपना स्वरूप ढँक रखा है। इसीलिए कोई उन्हें जरा-सा भी नहीं देख पा रहा है।" माँ का दिव्य व्यक्तित्व कोई सहज ही नहीं समझ सकता था। माँ मद्रास आयीं हैं – यह सुनकर वहाँ के लोगों ने स्वामी रामकृष्णानन्द के पास जाकर उनसे पूछा – व्याख्यान भी देंगी क्या? स्वामी रामकृष्णानन्द बोले – नहीं।

किसी में त्याग का भाव दिखाई पड़ने पर माँ प्रसन्न होती थीं। जिसके भीतर त्याग भाव होता, उसे वे उत्साहित करतीं। एक बार माँ ने कहा था, "सभी कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण धर्म-समन्वय का प्रचार करने आये थे। परन्तु उन्होंने जो विभिन्न धर्मों की साधना की थी, उसका यह उद्देश्य नहीं था। उनका उद्देश्य था यह जानना कि विभिन्न धर्मों में ईश्वर को किस प्रकार पुकारते हैं।" इसीलिए माँ के मतानुसार धर्म-समन्वय श्रीरामकृष्ण की मुख्य शिक्षा नहीं थी, बल्कि वे त्याग क्या है – यह अपने जीवन में दिखाकर लोगों को सिखाने आये थे। इस युग के आदर्श के रूप में वे जगत् को जो कुछ दे गये, उनमें यह त्याग का आदर्श ही श्रेष्ठ है। माँ कहतीं, "ठाकुर के समान त्याग की बात इसके पहले और किसी ने कहीं नहीं सुनी।" माँ स्वयं भी इस त्याग के आदर्श पर जोर दिया करती थीं। स्वामीजी कहते थे, "त्याग और सेवा – इस राष्ट्र के दो महान् आदर्श हैं। यदि इस आदर्श को हम पकड़े रह सके, तो हमारा सब ठीक चलेगा।" इसीलिए माँ भी अपने निजी जीवन के द्वारा यही त्याग का आदर्श दिखा गयीं। आज विश्वव्यापी स्वार्थपरता, येन-केन-प्रकारेण कार्यसिद्धि, अनुचित उपायों से धनोपार्जन आदि के परिप्रेक्ष्य में सहज ही ऐसा लगता है कि इस त्याग के आदर्श की परम आवश्यकता है।

मैं पहले ही कह आया हूँ कि माँ सबको इस त्याग के पथ पर चलने के लिए उत्साहित किया करती थीं। एक बार एक सज्जन बंगाल के किसी अंचल से माँ के पास आये। उनकी इच्छा थी कि वे संसार को त्यागकर ऋषीकेश या वैसे ही किसी स्थान पर जाकर साधन-भजन में जीवन बिता दें। परन्तु वे विवाहित थे और उनकी एक सन्तान भी थी। वहाँ पर जो लोग उपस्थित थे, उनके बीच तुमुल रूप से तर्क छिड़ गया कि ऐसे व्यक्ति भला कैसे साधु हो सकते हैं? इसी तरह की बहुत-सी बातें अनेक लोग कहने लगे। परन्तु माँ कुछ भी कहे बिना बिल्कुल चुप बैठी रहीं। कुछ दिनों बाद जब सारा तूफान शान्त हो गया, तो एक दिन माँ ने उन सज्जन को बुलाकर गेरुआ देते हुए ऋषीकेश जाने की अनुमति दे दी। परवर्ती काल में वे रामकृष्ण संघ के एक विशेष सम्माननीय साधु के रूप में परिगणित हुए थे।

जयरामबाटी में एक बड़ा ही अच्छा युवक था। वह अच्छा गा लेता था और सभी उससे स्नेह करते थे। एक दिन वह सहसा गायब हो गया, किसी को पता नहीं कि वह कहाँ गया। कई वर्ष बाद वह गाँव लौटा। उसके लौट आने की बात सुनकर गाँव में बड़ी उत्तेजना फैली। बहुत-से लोग उसे देखने गये। मानो सभी ने उसका घेराव कर रखा था और प्रश्न-पर-

प्रश्न किये जा रहे थे। गाँव में ऐसी हलचल मच गयी थी कि 'क्या बात है' – यह जानने को माँ के मन में भी कुतूहल उत्पन्न हुआ। सामान्यत: माँ मुहल्ले मे किसी के घर जाती नहीं थी। परन्तु उस दिन माँ ने सोचा कि 'क्या बात है' जरा देख आऊँ। वे उस लड़के के घर गयी। उन्होने देखा कि बहुत-से लोग उसे घेरे हुए हैं और पूछ रहे है, "बिना बताये घर से क्यों भाग गये थे?" "इतने साल कहाँ थे?" "ऐसे ही कहीं फिर न भाग जाना।" इत्यादि। परन्तु माँ ने कुछ भी नही कहा, वे चुपचाप सब सुनती रहीं। थोड़ी देर बाद उन्होने कहा, "बेटा, तुमने साधु होकर अच्छा ही किया है।" तीन बार उन्होंने यही बात कही और फिर दोपहर के समय अपने पास आकर प्रसाद पा लेने को कहा।

कभी कभी कलकत्ते के भक्त आकर माँ से कहते कि अच्छे वर के अभाव में वे अपनी पुत्रियों का विवाह नहीं कर पा रहे हैं। इस पर माँ कहती, "कन्या का विवाह नही हुआ, इस कारण उसके माँ-बाप क्यों इतना दु:ख करते हैं? लड़की को निवेदिता स्कूल में सुधीरा के पास क्यो नही भेज देते?" यही था माँ का दृष्टिकोण।

सबके प्रति माँ की कितनी प्रीति व संवेदना थी! जिसे एक बार भी इस स्नेह का आस्वादन मिला है, वह कभी इसे भूल नही सकेगा। एक बालिका माँ के पास शाक-सब्जी बेचने आया करती थी। देखने मे आया कि माँ का तिरोभाव हो जाने के बाद भी वह बीच बीच मे आती और थोड़ी देर बैठी रहकर फिर चली जाती। उससे पूछा गया, "अब और तुम किसलिए आती हो?" उत्तर में उसने कहा, "माँ का इतना स्नेह मिला है कि उन्हें कैसे भी भूल नही पा रही हूँ। इसीलिए यहाँ आती हूँ और थोड़ी देर बैठकर चली जाती हूँ। इसी से मुझे बड़ा आनन्द होता है।"

प्रथम विश्वयुद्ध के समय बाजार में स्पिरिट पाना बड़ा कठिन था, क्योकि युद्ध के कार्य में उन दिनों स्पिरिट की भारी माँग थी। सामान्यत: एक बोतल स्पिरिट की कीमत छह आने थी, पर उन दिनो किसी भी कीमत पर बाजार मे स्पिरिट नही मिलती थी। एक भक्त ने किसी प्रकार जयरामबाटी के औषधालय के लिए कई बोतल स्पिरिट की व्यवस्था की थी। माँ के पाँवों में वात रोग था, जिससे उन्हें बड़ा कष्ट होता था। स्पिरिट से मालिश करने पर उन्हें थोड़ी राहत मिलती। उन सज्जन ने जो स्पिरिट ला दी थी, उसी में से थोड़ा-सा लाकर माँ से उपयोग करने को कहा गया। परन्तु माँ राजी नहीं हुईं। उन्होंने कहा, "वह स्पिरिट गरीबों के लिए आया है, उन्हें वंचित करके मैं अपनी सुविधा के लिए उसका उपयोग नहीं कर सकती।" इस घटना से माँ का दृष्टिकोण समझ में आ जाता है।

अन्य एक समय एक भक्त ने आकर माँ से कहा, "माँ, अमुक का देहान्त हो गया है। मृत्यु के पूर्व एक वसीयतनामा करके वे बेलुड़ मठ तथा पुराने साधुओं के लिए काफी सम्पत्ति छोड़ गये हैं।" माँ चुपचाप सब सुनती रहीं। उन भक्त की बातें समाप्त हो जाने पर वे बोलीं, "अच्छा है। वे जो कुछ कर गये हैं यह तो मैंने सुना, परन्तु क्या वे गरीब-दुखियों के लिए भी कुछ रख गये हैं।" भक्त से कुछ और कहते नहीं बना। वे मौन रह गये, क्योंकि सचमुच ही तो वे सज्जन गरीबों के लिए कुछ छोड़कर नहीं गये थे। गरीब-दुखियों के लिए उनके हृदय में कैसी पीड़ा थी, यह इस घटना से समझा जा सकता है। स्वामीजी भी कहते थे – गरीब-दुखी तथा समाज के पिछड़े लोगो की हम जो अवहेलना करते हैं, इसी के फल-स्वरूप आज विदेशी शक्ति इस देश में राज्य कर पा रही है। अपने देश के सामान्य जन की हम उपेक्षा करते आये है, इसी कारण पिछले हजार वर्षों से हमें विदेशी शक्तियों के सम्मुख पदावनत होना पड़ा है। इसीलिए माँ भी हमें यही शिक्षा दे गयी है कि गरीब-दुखियों को ऊपर उठाना हमारा प्रथम कर्तव्य है। स्वामीजी भी सावधान कर गये हैं कि हम इस आदर्श से कभी विचलित न हों।

इस समय जो दो-चार विच्छिन्न बातें मेरे मन में आ रही हैं, अब मै उन्हें ही कहता हूँ। एक दिन माँ की जननी श्यामा-

माँ के उपदेश

भगवान के शरणागत होने पर विधि का विधान भी खण्डित हो जाता है।

जिसके पास धन आदि है, वह दान करे; जिसके पास नहीं है, वह जप करे।

सृष्टि ही सुख-दुखमय है। दु:ख के रहे बिना क्या सुख को समझा जा सकता है!

धर्म-अधर्म को छोड़ अन्य कुछ भी साथ नहीं जायेगा। पाप-पुण्य मृत्यु के बाद भी साथ जाते हैं।

बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। प्रत्येक कर्म का ही फल होता है। किसी को कष्ट देना या कटु बोलना अच्छा नहीं।

भले कार्य करना अच्छा है! भले कार्य करने पर मनुष्य आनन्द मे रहता है और बुरे कर्म करने पर कष्ट उठाना पड़ता है।

मन शुद्ध हुए बिना कुछ न होगा। मंत्र से देहशुद्धि होती है। ईश्वर का मंत्र जपकर व्यक्ति पवित्र होता है।

सब सहते जाना चाहिए। बेटा, सहनशीलता बड़ा गुण है, इससे बड़ा दूसरा गुण नहीं।

सुन्दरी देवी ने माँ से पूछा, "अच्छा, बता तो, एक पाँव पर दूसरा पाँव रखकर जो देवी बैठती हैं, उनका नाम क्या है?" माँ ने कहा, "जगद्धात्री।" श्यामा-सुन्दरी देवी बोलीं, "मुझे उनकी पूजा करने की इच्छा हो रही है।" लगातार दो वर्षो तक जगद्धात्री-पूजा हुई। अगले वर्ष जब पुन: माँ की माँ ने पूजा करने की बात कही, तो माँ ने आपत्ति करते हुए कहा, "यह सब झंझट अब और अच्छा नही लगता।" आखिरकार माँ राजी हुई और पूजा भी हुई। पहली बार पूजा के पूर्व कई दिनो तक खूब वर्षा हुई। माँ ने बाद में स्वामी शान्तानन्द को बताया था, "वर्षा के कारण पूजा के लिए आवश्यक वस्तुएँ सुखायी नही जा सकी। परन्तु मजे की बात यह है कि चारों ओर वर्षा हो रही थी, परन्तु हमारे चबूतरे पर धूप थी।" यह एक अलौकिक, परन्तु सत्य घटना है।

एक अन्य घटना हुई थी, जिसका मैं प्रत्यक्षदर्शी हूँ। महासमाधि के परवर्ती दिन माँ का शरीर मठ में लाया गया। इस समय जहाँ उनका मन्दिर बना हुआ है, वही पर उनके स्थूल शरीर का दाह किया गया। तब तक वहाँ घाट नहीं बना था। तथापि वहाँ से गंगा के पाट की ओर ढलाव था। यथासमय चिता सजाकर उसमें अग्नि दी गयी। चिता जल रही थी। ठीक उसी समय देखने में आया कि गंगा के उस पार प्रचण्ड वर्षा हो रही है। ऐसी वर्षा कि गंगा के उस पार के मकान पेड़-पौधे आदि कुछ भी दिखाई नहीं दे रहे थे। वर्षा गंगा के बीचो-बीच तक आई, परन्तु वहीं ठहर गयी। तब इस पार स्थित बेलुड़ मठ में चमकीली धूप फैली थी। चिता यथारीति जलने लगी। थोड़ी देर में माँ के सम्पूर्ण शरीर का दाह हो गया। अब चिता को बुझाना था। वहाँ एक जन तांत्रिक भी थे। उनकी इच्छा थी कि चिता को तांत्रिक विधि से बुझाया जाय। उसके लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी, वे उस समय वहाँ उपलब्ध न थीं। इसीलिए वे उन्हें लाने को बाजार गये हुए थे। उन्हें लौटने में विलम्ब हो रहा था। स्वामी निर्मलानन्द (तुलसी महाराज) ने अधीर होकर एक बड़ा कलश लिया और उसे गंगा से भर लाने के बाद शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) से बोले, "आप जल ढालकर चिता बुझा दें। अब और प्रतीक्षा करना हमारे लिए ठीक न होगा।" शरत् महाराज ने चिता मे जल ढाला। इसी बीच अनेक लोग चिता में ढालने को गंगाजल ले आये थे। परन्तु अन्य किसी को जल ढालने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी, क्योंकि शरत् महाराज का जल ढालना समाप्त होने के साथ-ही-साथ उस पार की वर्षा इस पार आ पहुँची थी। वह वर्षा इतने जोर की थी कि उससे तत्काल ही चिता की अग्नि पूरी तौर से बुझ गयी। इसके फलस्वरूप शरत् महाराज के बाद और किसी का जल ढालना नही हो सका। हम सभी वर्षा में पूरी तौर से भीग गये। ऐसी घटनाएँ भी हुआ करती हैं। सुनने में अस्वाभाविक तथा अलौकिक लगने पर भी यह घटना सच्ची है।

एक बार एक भक्त ने माँ से पूछा, "माँ, हमारा देश कब स्वाधीन होगा? माँ ने स्पष्ट भाषा में कह दिया, "बेटा, तुम लोग क्या उन्हें (अँग्रेजों को) देश से भगा सकोगे? नहीं भगा सकोगे। उनमें जब आपसी लड़ाई छिड़ेगी, तभी तुम लोग स्वाधीन हो सकोगे।" इतिहास ने यह प्रमाणित किया है कि अनेक दिनों पहले वे जो कह गयी थीं, वही सत्य हुआ। वैसे हम कह सकते है कि हमने स्वाधीनता के लिये संग्राम किया था, इसीलिए स्वाधीनता मिली है। परन्तु असल बात यह है कि द्वितीय महायुद्ध यदि नहीं होता, तो हमें स्वाधीनता पाने में और भी अनेकों वर्ष लग जाते। स्वामीजी भी कहा करते थे, "ये अर्थात् 'ब्रिटिश लोग' चोर की भाँति पिछले द्वार से हमारे देश में प्रविष्ट हुए हैं, वे लोग उसी भाँति इस देश से चले भी जायेंगे, कोई रक्तपात नहीं होगा। रक्तपातविहीन एक विप्लव के द्वारा भारत स्वाधीन होगा।" आज हम जानते हैं कि हमारी स्वाधीनता-प्राप्ति के समय रक्तपात नही हुआ। बिना रक्तपात के ही एक विप्लव हो गया।

बीच बीच में भक्तगण माँ से कहते, "माँ, हमारा कुछ हो नहीं रहा है। ध्यान-जप करता हूँ, परन्तु उसमें कोई आनन्द नहीं मिलता।" माँ कहतीं, "ऐसी बात बहुत-से लोग आकर मुझसे कहते हैं, परन्तु वे लोग प्रतिदिन दस-पन्द्रह हजार जप करें न, तब देखूँगी उन्हें कैसे आनन्द नहीं मिलता।" ऐसा माँ प्राय: ही कहा करती थीं। वे और भी कहतीं, "ऋषि-मुनियों ने भगवत्प्राप्ति के लिए तपस्या करते हुए कितने जन्म बिता दिये और तुम लोग बिना कुछ किये ही धोखे से उन्हें पा लेना चाहते हो। बिना प्रयास किये क्या वह सम्भव है? जो चाहते हो, उसे पाने के लिए पूरी शक्ति के साथ लग जाना होगा। सभी आते हैं और कहते हैं, 'कृपा, कृपा'। कृपा से क्या होगा? कृपा जाकर लौट आती है।" जिस पर कृपा होती है, वह यदि तैयार न रहे तो कृपा आकर भी लौट जाती है। तथापि माँ सबको उत्साहित करते हुए कहा करती थीं, "इस युग में श्रीरामकृष्ण ने आकर ईश्वरप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। जो भी थोड़े उद्योगपूर्वक भगवान का चिन्तन करेगा, वही उन्हें पा सकेगा।"

माँ का अन्तिम उपदेश था, "किसी के दोष मत देखना।" एक बात और भी वे कहती थीं, "जब तुम लोग किसी समस्या में पड़ो, जब कोई मानसिक अशान्ति हो, तो स्मरण रखना कि तुम्हारी एक माँ है।" आपत्ति-विपत्ति जो भी आये, हमें माँ को पुकारना होगा, तो फिर वे ही हमारी देखभाल करेंगी और हमारी भय-चिन्ताएँ आदि सब दूर हो जायेंगी। माँ हम सब पर कृपा करें – यही मेरी उनसे प्रार्थना है।

(बँगला ग्रन्थ 'शतरूपे सारदा' से अनूदित)

आचार्य विनोबा

स्वामी सत्यरूपानन्द

हमारी शताब्दी में जिन महापुरुषो ने प्राचीन जीवन-मूल्यों का अपने जीवन में प्रयोग करके यह दिखा दिया कि भारत की सर्वांगीण उन्नति तथा विश्वशान्ति की प्राप्ति के लिए भारत के पास एक सर्वांगीण पूर्ण जीवन-दर्शन है, जिसे धर्म, जाति, रंग, लिग आदि सभी भेदो से सर्वथा निरपेक्ष रहकर विश्व के सभी मनुष्य ग्रहण कर सकते हैं, उनमे आचार्य विनोबा का नाम अन्यतम है। वे सत्य के अन्वेषक और अहिंसा के पुजारी थे। उन्हे इसकी प्रेरणा महात्मा गांधी से मिली थी, पर जीवन में सत्य का सन्धान तथा अहिंसा का प्रयोग उन्होने भारत की आध्यात्मिक विद्या के शाश्वत सिद्धान्तों के अनुसार ही किया था। गीता और उपनिषद उनकी प्रेरणा के अक्षय स्रोत थे। ब्रह्मविद्या ही उनके जीवन का संबल था। जीवन में ब्रह्मविद्या के आचार का नाम ही तो आध्यात्मिकता है। इस विद्या का अध्येता तथा प्रयोगकर्ता ही विश्वप्रेमी होकर जगत्-कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पित कर सकता है। आचार्य विनोबा इसके एक जाज्वल्यमान प्रत्यक्ष प्रमाण थे। उन्होने लोक-कल्याण रूपी यज्ञ मे अपने जीवन की आहुति दे दी।

विनोबाजी किसी मत या वाद के आग्रही न थे। उनका लक्ष्य था सत्य और वे यह मानते थे कि सत्य की उपलब्धि विचार और प्रेम के द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए उन्होने कभी किसी मतविशेष का आग्रह नहीं किया। किन्तु एक विचारक होने के नाते उनके मन मे सभी मतो के प्रति आदर का भाव था तथा जिस मत मे जो भी अच्छी बाते मिलती, उसे वे ग्रहण कर लिया करते थे।

विनोबाजी स्वयं कहा करते थे कि मैं एक विचारक हूँ, अत: मेरे पास विचार है। विचारो का आदान-प्रदान किया जा सकता है। उन पर विचार-विमर्श किया जा सकता है, उनमे शोध और सुधार किया जा सकता है। किन्तु मत के सम्बन्ध मे ऐसा करना कठिन है। मत प्राय: रूढ़ और संकुचित हो जाते है। इसके कारण उन्नति और विकास का मार्ग प्राय: अवरुद्ध हो जाता है। मतो और वादो के कारण संघर्ष के इस युग मे विनोबाजी की यह शिक्षा हमारे लिए विशेष उपयोगी है। हमे मतो, वादो आदि के सम्बन्ध मे भी सहानुभूति और उदारतापूर्वक विचारो का आदान-प्रदान करना चाहिए। क्योंकि विचार-विमर्श के द्वारा ही हम अपनी समस्याओं का समाधान कर सकते है।

विनोबाजी की दूसरी मान्यता यह थी कि शक्ति प्रेम और विचार मे होती है। अत: हमें अपने हृदय मे विशुद्ध प्रेम विकसित करना चाहिए। बिना प्रेम के, विचार शुष्क दुराग्रह बन सकते है। फिर विचारो के आदान-प्रदान के लिए भी यह आवश्यक है कि दूसरो के विचारो को प्रेमपूर्वक सुना और समझा जाय। आचार्य विनोबा की यह दृढ़ मान्यता थी कि प्रेम की शक्ति ही असल शक्ति है। अत: व्यक्ति और समाज दोनों की समस्याओं का समाधान प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। अणु बम के इस युग में विनोबाजी के ये विचार दीपस्तम्भ के समान हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं।

आचार्य विनोबा की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा व्यावहारिक शिक्षा है, "सब मेरे हैं और मै सबका हूँ।" अपने इन विचारों और भावनाओ के कारण उन्होंने अपने जीवन में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, जाति-पाति आदि के सभी बन्धनों को तोड़ दिया था। अपने ब्राह्मणत्व की विशेषता तथा अभिभाव को दूर करने हेतु उन्होंने अपनी चोटी काट डाली थी। दूसरे धर्मो को ठीक ठीक समझने के लिए उन्होंने बाइबिल और मूल कुरान के कई पारायण किये। जैन, बौद्ध, सिख आदि धर्मो के ग्रन्थों का भी उन्होने अध्ययन किया। उनकी यह सीख हमारी आज की समस्याओ के समाधान मे बहुत सहायक हो सकती है। यह भावना कि सभी हमारे अपने हैं, समाज में भाई-चारे के भावो को दृढ़कर हमे विश्वबन्धुत्व की ओर ले जा सकता है।

विनोबाजी के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को उनके वे विचार हमारे सामने प्रज्वलित दीपक के समान स्पष्ट कर देते हैं, जो उन्होने १९५६ मे कर्नाटक मे हुई ग्रामदान परिषद के सामने रखे थे। उन्होंने कहा था कि मेरी यह मूलभूत श्रद्धा है कि हर व्यक्ति के हृदय मे अन्तर्यामी विराजमान हैं। ऊपर जो बुराइयाँ दिखती है, वे गहराई में प्रवेशकर वहाँ जो अच्छाइयाँ भरी पड़ी हैं, उनको बाहर लाने की कोई तरकीब मिलनी चाहिए।

भारतीय जीवन-दर्शन का यही मूल सूत्र है। वेद, वेदान्त, गीता, पुराण आदि सभी शास्त्रो के उपदेशों का सारतत्त्व यही है। अपने इन विचारो को आचरण मे लाने के लिए विनोबाजी ने तीन सूत्र बताए – (१) हृदय-परिवर्तन, (२) जीवन-परिवर्तन और (३) समाज-परिवर्तन।

समाज की सर्वांगीण उन्नति और कल्याण का यही अमोघ उपाय है। इसके द्वारा विश्व के सभी राष्ट्र परस्पर मैत्री-सम्बन्ध रखकर चिरस्थायी विश्वशान्ति की भी स्थापना कर सकते हैं।

इस त्रिविध परिवर्तन का मूल स्वर पवित्रता, प्रेम और अहिंसा है। संत विनोबा के जीवन में ये दिव्य गुण प्रकाशित हुए थे। आज की परिस्थितियो को देखकर तो यही लगता है कि संत विनोबा के जीवनकाल में उनके विचार तथा उपदेश जितने उपयोगी और प्रासंगिक थे, उसकी तुलना में आज उनकी उपयोगिता और प्रासंगिकता कही अधिक है। विनोबाजी ने वैचारिक क्रान्ति का जो बीज बोया है, वह यथासमय अवश्य ही पल्लवित और पुष्पित होगा।

तीर्थराज प्रयाग में रामकृष्ण संघ का कार्य

– पं. कृष्णानन्द शर्मा, हाथीवाले, तीर्थ पुरोहित, प्रयाग

त्रिवेणीं माधवं सोमं, भरद्वाजं च वासुकीम् ।
वन्दे अक्षयवटं शेषं, प्रयागं तीर्थ नायकम् ।।
त्वं राजा सर्वतीर्थानां, त्वमेव जगत्पिता ।
याचितं तीर्थ मे देहि, तीर्थराज नमोऽस्तुते ।।

– त्रिवेणी, वेणीमाधव, सोमेश्वर, भरद्वाज, वासुकि नाग, अक्षयवट, शेष (बलदेव) और तीर्थनायक प्रयाग की मैं वन्दना करता हूँ। हे तीर्थराज, आप सभी तीर्थों के राजा हैं, आप ही जगत् के पिता हैं, कृपा करके आप मुझे मेरा इच्छित तीर्थ प्रदान करें, मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

तीर्थराज प्रयाग की महिमा विश्वविख्यात् है। इसकी महिमा का प्रमाण आध्यात्मिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक रूप में सर्वविदित है। ब्रह्मपुराण के अनुसार यहाँ प्रकृष्ट यज्ञ हुआ करते थे, इसलिये इसका नाम प्रयाग हुआ। प्राय: सभी पुराणों में प्रयाग का तीर्थराज के नाम से उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण के पाताल खण्ड में प्रयाग के माहात्म्य का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसकी आध्यात्मिक महिमा ॠग्वेद, मत्स्यपुराण, लिंगपुराण, देवीभागवत तथा महाभारत आदि ग्रन्थों में भी वर्णित हुई है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के माध्यम से तीर्थराज प्रयाग का माहात्म्य इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

को कहि सकहि प्रयाग प्रभाऊ ।
कलुस पुंज कुंजर मृग राऊ ।।
अस तीरथपति देखि सुहावा ।
सुख सागर रघुवर सुख पावा ।। २/१०६/१-२
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ ।
देहि सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ।। १/२/७

– तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य का वर्णन भला कौन कर सकता है! वे मानो पापों के समूह रूपी हाथी को मारने के लिए सिंह रूप हैं। ऐसे सुहावने तीर्थराज का दर्शन करके सुख के सागर श्री रघुनाथजी को भी सुख प्राप्त हुआ। ये तीर्थराज अलौकिक तथा अकथनीय महिमावाले और तत्काल फल देनेवाले हैं।

प्रयाग की महिमा न्यारी है। महाभारत के रचयिता भगवान वेदव्यास के अनुसार सोम, वरुण एवं प्रजापति का जन्म यहीं हुआ था। उनके कथनानुसार सभी तीर्थ, देव तथा मुनि यहाँ निवास करते हैं। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन हर पाँचवे वर्ष प्रयाग आकर माघ मेले में अपना सम्पूर्ण राजकीय कोष दान करके अपनी बहन द्वारा दिये हुए वस्त्र धारण करते थे।

प्रयाग में ही उन महान् कर्मकाण्डी विद्वान् कुमारिल भट्ट का निवास-स्थान था, जिन्होंने धोखे से बौद्ध भिक्षुओं की शिष्यता ग्रहण करके, उनकी दुर्बलताओं को जान लिया और तदुपरान्त शास्त्रार्थ के लिए उन्हें चुनौती देकर अपने कर्मकाण्ड की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए उन सभी को पराजित कर दिया था। प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने के लिए इस प्रकार अनुचित उपाय का आश्रय लेने के कारण उन्होंने प्रायश्चित्त करने हेतु जीते-जी ही अपनी देह को तुषाग्नि में समर्पित कर दिया था। इन्हीं कुमारिल भट्ट से शास्त्रार्थ करने की इच्छा से आदि शंकराचार्य प्रयाग पधारे थे। यहीं पर महाप्रभु वल्लभाचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु का भी मिलन हुआ था। युगावतार भगवान रामकृष्णदेव भी प्रयाग-तीर्थ का दर्शन करने आये थे। उनके ब्रह्मलीन होने के बाद माँ सारदा देवी भी यहाँ आयी थीं और जब वे श्रीरामकृष्ण के केश तथा नख त्रिवेणी में विसर्जन करने को प्रस्तुत हुईं, तो उस समय अपने आप ही गंगाजी से एक ऊँची लहर ने उठकर उसे ग्रहण कर लिया था।

भगवान श्रीरामकृष्ण देव के पट्टशिष्य युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द जी तथा उनके अन्य कई गुरुभाई भी परिव्राजक के रूप में यहाँ आये थे। श्रीरामकृष्ण देव के सशरीर रहते ही काशीपुर के उद्यान-भवन में तथा उनके लीलावसान के उपरान्त वराहनगर में 'रामकृष्ण मठ' की स्थापना हो चुकी थी और स्वामीजी ने अमेरिका, यूरोप आदि देशों के दौरे से स्वदेश लौटने पर 'रामकृष्ण मिशन' नामक एक अन्य समिति की भी स्थापना की। बाद में उन्होंने अपने प्रिय गुरुभाई स्वामी विज्ञानानन्द जी को प्रयाग में जाकर धर्मप्रचार करने तथा एक आश्रम स्थापित करने को प्रेरित किया। स्वामी विज्ञानानन्द जी अपने गुरुभाई के आदेश का पालन करने हेतु प्रयाग पधारे तथा विवेकानन्द-अनुरागियों द्वारा पहले से ही स्थापित तथा कार्यरत 'ब्रह्मवादिन् क्लब' के एक छोटे-से कमरे में निवास करते हुए उन्होंने भक्तों को श्रीरामकृष्णदेव की भावधारा से परिचित कराया। ब्रह्मवादिन् क्लब में प्रवाहित होनेवाली आध्यात्मिक गंगा का लाभ कुछ गिने-चुने भक्तों को ही मिल पाता था। प्रयाग के जनसाधारण

के बीच भी श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द की आध्यात्मिक भावराशि का विस्तार करने के लिये उन्होंने वर्तमान स्थान पर रामकृष्ण मठ शुरू किया और कुछ वर्षो के बाद स्वामी ब्रह्मानन्दजी के अनुरोध पर रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम की भी स्थापना की। तब तक देश-विदेश में संघ की केवल कुछ ही शाखाएँ स्थापित हो सकी थीं।

वर्तमान आश्रम में सन् १९१० से सन् १९३८ तक निवास करते हुए स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज गरीब जनता की होमियोपैथिक चिकित्सा द्वारा नि:शुल्क सेवा करते रहे। उन्होंने वाल्मीकि रामायण, सूर्य-सिद्धान्त तथा देवी-भागवत महापुराण आदि ग्रन्थों का अँग्रेजी में अनुवाद किया।

रामायण के अनुवाद के समय उन्हें नित्य भगवान श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी तथा हनुमानजी के दर्शन हुआ करते थे। वे प्रतिदिन त्रिवेणी स्नान के लिये जाते थे तथा उन्हें माँ त्रिवेणी का प्रत्यक्ष दर्शन भी हुआ था। त्रिवेणी-दर्शन के विषय में उनकी दैनन्दिनी से पता चलता है कि जब वे त्रिवेणी में स्नान कर रहे थे, तो एक सुन्दर कन्या जल से प्रकट हुई और उन्हें अपनी तीन वेणियाँ दिखाते हुये अन्तर्ध्यान हो गयी।

स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज को प्रयाग तीर्थ से इतना लगाव था कि रामकृष्ण मिशन के परम-अध्यक्ष का पद ग्रहण करने के बाद भी उन्होंने प्रयाग नहीं छोड़ा। वैसे रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अध्यक्ष बेलूड़ (कलकत्ते) में स्थित इसके मुख्यालय मे ही निवास किया करते हैं, परन्तु विज्ञानानन्दजी प्रयाग मे रहते हुए ही अध्यक्षीय उत्तरदायित्वो का निर्वाह करते रहे। महासमाधि के पश्चात् उनका पार्थिव शरीर माँ त्रिवेणी की पावन धारा में विसर्जित किया गया। स्वामी विज्ञानानन्द जी महाराज के ब्रह्मलीन होने के बाद भी रामकृष्ण मिशन की इलाहाबाद शाखा रामकृष्ण देव के महामंत्र 'शिवज्ञान से जीव-सेवा' को चरितार्थ करने के लिये अनेक लोकहितार्थ कार्य करती आ रही है, जिनमें चिकित्सा, शिक्षा एवं दैविक आपदाओं के समय राहत-कार्य आदि प्रमुख हैं।

इस समय में मिशन द्वारा संचालित स्वामी विज्ञानानन्द चिकित्सालय २० चिकित्सकों द्वारा आधुनिक चिकित्सा प्रणाली से नित्य लगभग ३०० व्यक्तियों को सेवा उपलब्ध करा रही है। प्रतिवर्ष त्रिवेणी संगम के निकट स्थित माघ मेला क्षेत्र में मिशन की ओर एक माह का एक सेवा शिविर लगाया जाता है, जहाँ सुयोग्य चिकित्सकों द्वारा अस्वस्थ तीर्थयात्रियों तथा कल्प-वासियों की एलोपैथी, एक्यूपंचर आदि पद्धतियों से नि:शुल्क चिकित्सा की जाती है। गत वर्ष माघ मेला शिविर में १९,२०० रोगियों की चिकित्सा की गयी। यह कार्य कुम्भ मेले में और भी विस्तार से सम्पन्न किया जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी आश्रम का विशेष योगदान है। गरीब छात्र-छात्राओ को आश्रम की ओर से छात्रवृत्ति तथा पाठ्य पुस्तकें नि:शुल्क दी जाती हैं। मठ के पुस्तकालय में विभिन्न विषयों पर २५,००० से भी अधिक पुस्तकों का संग्रह है तथा अनेक दैनिक और मासिक पत्र-पत्रिकायें भी उपलब्ध रहती है।

मठ में नित्य पूजा-अर्चना, भजन व धार्मिक प्रवचन आदि कार्यक्रम होते है, जिसमें सभी अनुरागी तथा भक्तगण भाग ले सकते है। ❖❖❖

पुरखों की थाती

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीतमिव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।।

– बुद्धिमान व्यक्ति यदि विद्या या अर्थ का उपार्जन करना चाहे, तो उसे स्वयं को अजर-अमर सोचना चाहिए और यदि उसे धर्म या मुक्ति की कामना हो, तो वह स्मरण रखे कि मृत्यु सर्वदा ही उसके केश पकड़कर खींच रही है।

अहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम्।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भरेण नमन्त्यपि।।

– अहो! महापुरुषों का कैसा विचित्र स्वभाव होता है! एक ओर तो वे धन-ऐश्वर्य को तिनके के समान तुच्छ मानते हैं और दूसरी ओर उसकी प्राप्ति हो जाय, तो उसके भार से विनम्र भी हो जाते हैं।

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनसहितः गन्धेनोग्रेण लशुन इव।।

– जैसे समस्त औषधीय गुणो से युक्त लहशुन केवल अपने उग्र गन्ध के कारण ही त्याज्य हो जाता है, वैसे ही अगणित गुणों से युक्त व्यक्ति या पदार्थ भी उसमे निहित एक ही अवगुण के कारण निन्दित या त्यक्त हो जाता है।

अफ्रीका में रामकृष्ण संघ का नया केन्द्र - रामकृष्ण वेदान्त सेन्टर, लुसाका (जाम्बिया)

अफ्रीका महाद्वीप में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा द्वारा अनुप्राणित वेदान्तिक भावधारा के प्रचार तथा वहाँ के निवासियों की आध्यात्मिक जागृति हेतु वहाँ के जाम्बिया देश के लुसाका नगर में रामकृष्ण संघ के एक नये केन्द्र का उद्घाटन किया गया है। अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त-केसरी' के भूतपूर्व सम्पादक स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी उस केन्द्र के पहले प्रमुख नियुक्त हुए हैं। प्लाट नं. ८१००, सुन्जू रोड, लुसाका मे स्थित केन्द्र के परिसर में इसके बेलूड़ मठ द्वारा स्वीकृति को मनाने तथा इसके लिए नवनियुक्त स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी का स्वागत करने के लिए संध्या को साढ़े छह बजे एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। जाम्बिया में भारत के उच्चायुक्त श्री ए.के. अत्री तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती ऊषा अत्री भी इस समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे।

मठ तथा मिशन के सभी केन्द्रों में समवेत रूप से गायी जानेवाली सांध्य प्रार्थना 'खण्डन-भव-बन्धन' और कुशल गायकों द्वारा भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द की वन्दनाओ के साथ कार्यक्रम का श्रीगणेश हुआ। केन्द्र के सचिव डॉ. जी कुमार ने सभा को अध्यक्ष महाराज का परिचय देते हुए आश्रम के इतिहास का वर्णन किया और श्री नरोत्तमभाई परमार के प्रति विशेष आभार व्यक्त किया, जिनके अथक प्रयासों के फलस्वरूप ही यह केन्द्र रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के साथ संयुक्त हो सका है।

श्री अत्री ने लुसाका में संघ का एक केन्द्र प्रारम्भ होने के महत्त्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि यह बड़े सौभाग्य की बात है कि बेलूड़ मठ ने पूरे अफ्रीका में लुसाका को ही अपने प्रथम केन्द्र के लिये चयन किया है।

केन्द्र के प्रमुख स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण, माँ श्री सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश के आधार पर इस भाव-आन्दोलन के प्रमुख तत्त्वों पर प्रकाश डाला। केन्द्र के उपाध्यक्ष श्री डी.ए. भौमिक ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

वहाँ के हिन्दू समुदाय के सभी वर्गों के लगभग ३०० लोगों ने समारोह में भाग लिया। जाम्बिया के कुछ स्थानीय लोग भी समारोह में उपस्थित थे। आरती और प्रसाद-वितरण के बाद सभा विसर्जित कर दी गयी।

अनमोल बोल

* अपनी क्षमता के अनुकूल जिम्मेदारियों के लिए प्रार्थना मत करो, अपितु अपनी जिम्मेदारियों के अनुकूल क्षमता के लिए प्रार्थना करो।

* सुख का रहस्य इसमें नहीं है कि हम अपने पसन्द का काम करें, बल्कि इसमें है कि हम समस्त कार्यों को अपना मनपसन्द बना लें।

* कठिनाई जितनी ही बड़ी होती है, उसके समाधान में उतना ही अधिक महानता व्यक्त होती है। कुशल नाविक तो आँधी-तूफानों के बीच ही विश्वसनीयता तथा गौरव प्राप्त करते हैं।

* मनुष्य जिस वस्तु को खोज रहा है, वस्तुत: वह वस्तु भी उस व्यक्ति को खोज रही है; टेलीफोन भी अपने आविष्कर्ता ग्रैहम बेल को खोज रहा था।

गौहाटी आश्रम, आसाम

स्वामी विवेकानन्द के कामाख्या-देवी के दर्शन के सौ वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में मन्दिर के चबूतरे पर एक स्मृतिफलक लगाया गया है। विगत २९ जुलाई को रामकृष्ण मठ तथा मिशन के सहाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने इस फलक का उद्घाटन किया। इस अवसर पर आयोजित सभा की उन्होंने अध्यक्षता की और असमिया भाषा में प्रकाशित 'विवेकानन्द-चित्रकथा' पुस्तक का विमोचन भी किया।

मैमनसिंह, बंगलादेश

गुरुपूर्णिमा के अवसर पर विगत ५ जुलाई को स्थानीय रामकृष्ण आश्रम में एक भक्त-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। सम्मेलन के दौरान वेद तथा स्तोत्र-पाठ, भजन, समवेत साधना, प्रश्नोत्तर, रामनान-संकीर्तन तथा विविध आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा हुई। आश्रमाध्यक्ष स्वामी सर्वेश्वरानन्द जी ने कार्यक्रम का संचालन किया तथा प्रश्नों के उत्तर दिये। उस दिन भक्तों को संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज के भाषण की रेकार्डिग सुनाई गयी। पूरे दिन भर चले सम्मेलन में लगभग ४५० भक्तों ने योगदान किया। सम्मेलन के अन्त में लाटरी के द्वारा भक्तों के बीच श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ तथा स्वामी विवेकानन्द के चित्रों तथा पुस्तकों का वितरण किया गया।